वितरणार्थ निःशुल्क

For Private Circulation Only

धर्म - अर्थ - काम - मोक्ष
की
पुष्टिमार्गीय विवेचना

गोस्वामी श्याम मनोहर

Printed by Rajsons Computer Graphics
Priyadeep Cottage, Shantilal Modi Road,
Kandivali (W), Bombay - 400 067.
Tel.: 807 0641

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति विट्ठलेश्वरः प्रभु श्रीमान् ।
पुरूषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिजयति ।।१।।

स्वेषु पुष्टिकरं कारादैत्यबुद्धितमस्करम् ।
नमस्करोमि तं श्यामं सुंदरं मत्प्रियंकरम् ।।२।।

श्रीवल्लभमताभ्यासे कृपया येन दीक्षितः ।
दीक्षितं तमहं नौमि श्रीतातचरणं सदा ।।३।।

वागर्थरूपौ राजेते ग्रन्थकृष्णौ हि यन्मुखे ।
वक्तारं तं विभुं वन्दे तद्वागर्थोपलब्धये ।।४।।

पूर्वटीकाः समालोड्य भावार्थो भाषितो मया ।
सौष्ठवं यदिहैतासां नास्ति चेत्तन्ममैव हि ।।५।।

धर्म / अर्थ / काम / मोक्ष / पुष्टिमार्गीय चार पुरुषार्थ / हरेर्दास्यं धर्म: / सर्वसमर्थ का अर्थ / ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा की आवश्यकता / पुष्टि और पुष्टिमार्ग / पुष्टि का मूल भगवदिच्छा / परमात्मा सच्चिदानन्द है / पुष्टिमार्ग और नि:साधनता / पुष्टिमार्ग का गन्तव्य व्रजाधिप श्रीकृष्ण / पुष्टिमार्ग में नि:साधनता और भक्ति का महत्त्व / मार्ग में अपेक्षित सावधानियाँ / ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा पुष्टि के मैदान में नहीं पुष्टिमार्ग में आवश्यक है / नि:साधनता =भावभूमि, पुष्टि = बीजभाव तथा भक्ति =कल्पलता / पुष्टिमार्गीय दास्यभाव का स्वरूप / पुष्टि और पुष्टिभक्ति का अन्तर / पुष्टिमार्गीय तथा मर्यादामार्गीय दास्यभाव / दास्यभाव केवलाद्वैतवाद और शुद्धाद्वैतवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर / भक्ति वश परमात्मा भगवान और जीवात्मा भक्त बनते हैं / न मामकीनस्त्वम्! त्वं मामकीनोसि मदीय एव! / दास्यभाव और तादात्म्यवाद / अतिद्वैत और अतिद्वैत से सावधानी / त्वमेव माता च पिता त्वमेव / पुष्टिभक्त भगवान का दास है, पर घिघियाता नहीं / माहात्म्यज्ञान से हृदयभूमि को जोतने पर पुष्टि के बीज भक्ति के रूप में अंकुरित होते हैं / काम, क्रोध, द्वेष आदि भाव पुष्टि के मैदान में फलप्रद हो सकते हैं पुष्टिमार्ग में नहीं / परमात्मा का माहात्म्य और जीवात्मा की नि:साधनता / व्रजभक्तों के जैसे नि:साधनभाव से भगवद्भजन / पहुँचना कहीं नहीं केवल टहलते रहना है / भगवद्भजन स्वधर्म है आत्मबोध के आधार पर / देहाभिमान बने रहने पर तन्मूलक धर्म की अनिवार्यता / भगवत्सेवा और मानवसेवा / परोपकार स्वार्थ से श्रेष्ठ है पर भगवद्भक्ति से उत्तम नहीं है / केवल तनुजा या केवल वित्तजा सेवा जघन्य है / व्रजभक्तों की कृष्णसेवा रोजीरोटी कमाने का साधन नहीं थी / हमारा अध:पात क्रियात्मिका सेवा में भावना का महत्त्व / भगवद्व्यसन के साथ भगवद्भजन पुष्टिजीव की चरम उपलब्धि है / अलौकिक सामर्थ्य / प्रियतम भी परमात्मा और प्रेम भी परमात्मा! / स्नेहमूलक स्वामि-सेवकभाव है, भयमूलक नहीं /

।। श्री कृष्णाय नम : ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नम : ।।

चतु:श्लोकी के बारे में और कुछ भी समझने से पहले संक्षेप में यह एक बात समझ लेनी आवश्यक है कि इसके चार श्लोकों में क्रमश : चार पुरुषार्थों का निरूपण अभिलषित है :

(१) धर्म पुरुषार्थ
(२) अर्थ पुरुषार्थ
(३) काम पुरुषार्थ
(४) मोक्ष पुरुषार्थ

संस्कृत भाषा में पुरुषार्थ का अर्थ होता है : पुरुष की अर्थना यानि आकांक्षाएँ, व्यक्ति की आकांक्षाएँ, व्यक्ति की आकांक्षा या कामनाओं की गणना शक्य नहीं है. एक-एक व्यक्ति के हृदय में असंख्य कामनाएं भरी हुई हैं तो मनुष्य मात्र की कामनाओं की गणना कैसे संभव है ? और फिर चार तो कितनी छोटी संख्या है !

शास्त्रकार जब चार पुरुषार्थ की बात करते हैं तो उनका ध्यान इन असंख्य कामनाओं के अनेकविध विषयों पर नहीं किन्तु कामनाओं के स्वभाव पर है. इसे लक्ष्य में रखकर स्थूल चार वर्गों में इन कामनाओं का विभाजन किया गया है.

उदाहरणतया एक किसान को खेत जोतने के लिए ट्रेक्टर चाहिए. एक पूँजीपति को कारखाना डालने के लिए लाइसेन्स चाहिए. एक श्रमिक को कारखाने के मुनाफे के अनुपात में महंगाई-भत्ते में बढ़ोतरी चाहिए. एक मन्दिर चलानेवाले को नित-नई झांकी की सजावट कराने के लिए भेंट-सामग्री चढ़ानेवाला मनोरथी चाहिए. एक भागवत सप्ताह करने वाले को कथा के प्रत्येक प्रसंग के अलग-अलग यजमान चाहिए. एक रामजन्म के लिए, एक कृष्णजन्म के लिए, एक रुक्मिणीविवाह के लिए इत्यादि इत्यादि, ऊपरी तौरपर देखने पर ये कामनाएं भिन्न-भिन्न हैं परन्तु शास्त्रदृष्टि से ये सारे चक्कर अर्थ-पुरुषार्थ के हैं!

इसी तरह हमारी कुछ आकांक्षाएं धर्म पुरुषार्थ के अन्तर्गत आती हैं, कुछ अर्थ पुरुषार्थ के अन्तर्गत, कुछ काम पुरुषार्थ के अन्तर्गत और कुछ मोक्ष पुरुषार्थ के अन्तर्गत.

इन चार पुरुषार्थों में धर्म और अर्थ, मूलत: साधनकोटि के पुरुषार्थ हैं, जबकि काम और मोक्ष साध्यकोटि के पुरुषार्थ हैं.

धर्माचरण के द्वारा हम जीवन के किसी अलौकिक उद्देश्य की सिद्धि चाहते हैं. इसी तरह अर्थोपार्जन के द्वारा हम अपने काम पुरुषार्थ की सिद्धि चाहते हैं. कोई काम पुरुषार्थ की सिद्धि क्यों चाहता है? प्रश्न का उत्तर दे पाना कठिन कार्य है. क्योंकि अधिकाधिक इतना भर कहा जा सकता

है कि कामना की पूर्ति होनेपर क्यों सुख मिलता है, का उत्तर यही मिलता है कि कामना की पूर्ति न होनी एक दु:ख ही है. वास्तविकता यह है कि काम पुरुषार्थ की सिद्धि हमारा ऐहिक साध्य है. इसी तरह मुक्ति के द्वारा भी अन्य कुछ चाहा नहीं जाता. क्योंकि मोक्षकामना भी किसी साधन की कामना न होकर साध्य की कामना है.

सामान्यतया ऐसा प्रतीत होता है कि अर्थ और काम पुरुषार्थ ऐहिक होते हैं, जबकि धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ पारलौकिक या अलौकिक होते हैं. अर्थ और काम का सम्बन्ध देह के साथ अधिक जुड़ा हुआ लगता है.

(१) धर्म

वास्तविकता इस विषय में यह है कि 'धर्म' का सच्चा अर्थ कर्मकाण्ड नहीं है; और न वह किसी सामुदायिक आस्था के प्रति कोरी स्वीकृतिका ही कोई भाव है. धर्म एक जीवनप्रणाली है, जिसमें व्यवहार, विचार, भावना और कर्मकाण्ड आदि सभी बातों का समावेश हो जाता है.

(२) अर्थ

'अर्थ' यानि धन. 'धन' का अर्थ व्यवहार में चलते सिक्के या नोट ही केवल नहीं समझना चाहिए. धन या अर्थ के अन्तर्गत वे सारी बातें आ जाती हैं जिनके द्वारा हम लौकिक या अलौकिक सुख-सुविधा की सामग्री जुटा पाते हैं.

(३) काम

इसी तरह 'काम' का अर्थ भी केवल यौनवासना के सीमित अभिप्राय में प्राय: लिया जाता है.

वास्तविकता जब कि यह है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श या शब्द किसी भी विषय की नेत्र, जिव्हा, नाक, त्वचा या कान आदि के द्वारा प्राप्त होती अनुभूति में सुख की चाहना काम है. न केवल ज्ञानेन्द्रियों से विषयों की अनुभूति में ही, अपितु कर्मेन्द्रियों से सम्पन्न होती क्रिया को करने में भी, सुख की चाहना काम ही है.

(४) मोक्ष

हर व्यक्ति में इसी तरह मोक्षकामना भी किसी न किसी रूप में रहती ही है. चाहे कोई आस्तिक हो या नास्तिक, आत्मवादी हो या अनात्मवादी, ईश्वरवादी हो या अनीश्वरवादी.

यह बात और है कि मुक्ति का स्वरूप प्रत्येक के मत में भिन्न-भिन्न होता है. मुक्ति के स्वरूप के बारे में इतनी वैचारिक भिन्नता उन-उन विचारकों के मत में दु:ख या बन्धन का स्वरूप क्या है इस पर निर्भर करती है. जीवात्मा की कैसी अवस्था को, किन विषयों को, किन सम्बन्धों को, किन आवश्यकताओं या कामनाओं को; अथवा निज की किन सीमाओं को आप दु:खरूप या

बंधनरूप मानते हैं? दु:ख या बन्धन से मुक्त होना ही मोक्ष पुरुषार्थ है.

किन्हीं लोगों के लिए शारीरिक, पारिवारिक या सामाजिक कष्टों से छुटकारा पाना ही मोक्ष हो सकता है. आधुनिक युग में सभी राजनीतिक नेता इसी मुक्ति की ठेकेदारी के विभिन्न वाद और दावे प्रस्तुत करते हैं. इनकी अपनी एक साम्प्रदायिकता तथा छुआछूत होती है!

एक अन्य बुद्धिवादी (!) वर्ग प्राचीन सभी धार्मिक, साम्प्रदायिक एवम् दार्शनिक आस्थाओं से मुक्त होने में अपने मोक्ष पुरुषार्थ की कल्पना करता है. क्योंकि इनके अनुसार विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय ही मानव-समाज में सभी तरह की अशान्ति और संघर्ष फैलाने की वृत्ति को बढ़ावा देते हैं. ये इसी मुद्दे पर एक निर्णायक संघर्ष कर लेना चाहते हैं (!) मानवमात्र को धर्ममुक्त करने के लिए.

कुछ फेशनेबल लोग हर प्राचीन रूढ़ि से मुक्त होने में ही अपनी फेशनेबल मुक्ति मानते हैं.

कुछ वक्ता कहते हैं कि अपनी निज पहचान को भुला पाने में ही अपनी मुक्ति है.

कुछ इस समूचे संसार को ही बन्धन मानकर, इससे छुटकारा पाने में अपनी मुक्ति मानते हैं. क्योंकि इस संसार में शाश्वत सुख की सम्भावना नहीं है. यहां के हर सुख के साथ किसी न किसी तरह का दु:ख जुड़ा हुआ ही है.

कुछ लोग इस तरह की अनेकविध मुक्ति की कामनाओं को ही सबसे बड़ा बन्धन मान कर मुक्ति से मुक्त होना चाहते हैं!

जो मोक्ष को भी एक झंझट मानकर केवल भक्ति ही निरंतर करते रहना चाहते हों उन्हें पुष्टिभक्त समझना चाहिए. अतएव वृत्रासुर कहता है:

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यम्
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धिः अपुनर्भवं वा
समंजस त्वा विरहय्य कांक्षे ।

न मुझे स्वर्ग चाहिए और न ब्रह्मा की पदवी ही. न इस भूतल पर चक्रवर्ती सम्राट बनना चाहता हूं और न पाताल का अधिपति ही. न मुझे योगसिद्धियों की किसी तरह की कामना है और न मोक्ष की ही. मेरे लिए तो सभी कुछ तू है सो तेरे सिवा मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए!

यह भक्त की वाणी है! भगवत्कृपा के बिना, श्रीमहाप्रभु के अनुसार, मानव हृदय में ऐसी भक्ति का प्रादुर्भाव शक्य नहीं है. वृत्र असुर है तो क्या हुआ? है वह पुष्टि भक्त!

पुष्टिमार्गीय चार पुरुषार्थ

जैसे प्रस्तुत चतु:श्लोकी में पुष्टिमार्गीय धर्म, अर्थ, काम एवम् मोक्ष पुरुषार्थों का वर्णन है, वैसे ही पूर्वोक्त वृत्रासुर-चतु:श्लोकी के भी चार श्लोकों में पुष्टिमार्गीय धर्मार्थकाममोक्ष का निरूपण श्रीमहाप्रभु स्वीकारते हैं. वहां व्याख्या में एक संग्रहश्लोक दिया गया है :

पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोर्थो हरिरेव हि ।
कामो हरिदिदृक्षैव मोक्षो कृष्णस्य चेद् ध्रुवम् ।।

भगवान् श्रीहरि की दास्यभाव से भक्ति पुष्टिमार्गीय धर्म है. पुष्टिमार्गीय अर्थ स्वयंमेव श्रीहरि हैं. पुष्टिमार्गीय काम हरिदर्शन की लालसा है. जब किसी जीवात्मा का परमात्मा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के साथ सम्बन्ध पूर्णतया जुड़ जाता है तो वह पुष्टिमार्गीय मुक्ति है.

पुष्टिमार्गीय धर्म क्या है? श्रीहरि का दास्यभाव से भजन, श्रीहरि के प्रति अपने दासत्व की स्वीकृति किस प्रसंग में हम प्रकट करते हैं? पुष्टिमार्गीय दीक्षा ब्रह्म सम्बन्ध के प्रसंग में श्रीहरि के प्रति हमारे दासत्व की स्वीकृति को हम प्रकट करते हैं. यह जो कहा जाता है कि ब्रह्म सम्बन्ध की दीक्षा लेने के बाद पुष्टिमार्ग में भगवत्सेवा आवश्यक हो जाती है उसका भी रहस्य यही है : 'पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्म:'.

हरेर्दास्यं धर्मः

उस रोज मंदिर में हुई सभा में एक भाई ने प्रश्न रखा था कि 'ब्रह्म सम्बन्ध दीक्षा लिए बिना यदि कोई भगवत्सेवा करता हो तो क्या ऐसी सेवा भगवान् स्वीकार नहीं करेंगे?'

मैंने उत्तर दिया था कि 'आप सेवा करते हो'

इस पर उन्होंने पुन: प्रश्न पूछा कि 'इसका मतलब तो यह हुआ कि ब्रह्मसम्बन्ध की दीक्षा लेना अनिवार्य नहीं है!'

आपको याद होगा कि तब मैंने यह कहा था कि 'यदि ब्रह्मसम्बन्ध के बिना ही कोई भगवत्सेवा निभाना चाहता हो तो ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा अनिवार्य नहीं है.' साथ ही साथ यह खुलासा भी मैंने कर दिया था कि 'भगवान को किसी की या कैसी सेवा स्वीकारनी चाहिए और किसकी नहीं यह निर्धारित कर पाना किसी के भी बस की बात नहीं है. भगवान ने गाली देने वाले शिशुपाल का भी उद्धार किया था- विषपान करानेवाली पूतना को भी मुक्तिदान किया था:

अहो बकीयं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचिता ततोन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ।।

धाय का पाखण्ड करनेवाली इस असाध्वी पूतना की बात सोचो कि जिसने कृष्ण को मार डालने की इच्छा से अपना विषलिप्त स्तन उन्हें पिलाया. गति उसे भगवान ने परन्तु वही दी कि जो एक धाय को दी जानी चाहिए थी. अब बताओ कि और किस दयालु की शरण में हमें जाना चाहिए!

जो विषपान कराने आई थी उसे वह गति मिली जो पय:पान करानेवाली माता या धाय को दी जाती है! ऐसे दयालु हैं भगवान!

वे किसकी सेवा स्वीकारेंगे और किसकी नहीं यह कैसे निश्चित किया जा सकता है? कैसे कोई सिद्धान्त हम भगवान् के बारे में बांध सकते हैं? और हमारे बांधे हुए सिद्धान्तों के बन्धन में भगवान कितने बंध पायेंगे? हमारी इस क्षुद्र बुद्धि से घड़े गए सिद्धान्तों की सीमा में यदि भगवान को घेरा जा सकता होता तो मुझे तो उनके सर्वेश्वर होने में ही संदेह हो जाएगा! भक्त कवि नरसी मेहता कहते हैं :

'हूं करूं!' 'हूं करूं!' एज अज्ञानता
शकटनो भार जेम श्वान ताणे !

गाँव के लोग कहीं जाने को जब बैलगाड़ी में निकलते हैं तो कई बार उनका कुत्ता भी साथ हो लेता है. बैलगाड़ी के साथ आगे-पीछे या आजू-बाजू दौड़ते रहना पड़ता है उस कुत्ते को. परन्तु कभी इस कुत्ते को यह भ्रान्ति हो जाए कि मेरे चलने के कारण यह बैलगाड़ी चल रही है (!) तो यह कितनी विचित्र कल्पना कहलाएगी? ठीक उसी तरह हमारा यह सोचना कि जो सिद्धान्त हमारी क्षुद्रबुद्धि से ठीकठाक लगते हों ईश्वरीय व्यवहार भी बस उसी सिद्धान्त की चौखट के भीतर चलना चाहिए! यह तो बिल्कुल 'शकटनो भार जेम श्वान ताणे' है.

'सर्वसमर्थ' का अर्थ

अतएव भगवान् के सर्वसमर्थ होने का मतलब ही अपने यहां यह कहा जाता है कि भगवान् कुर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तुम् समर्थ है.

ऐसी स्थिति में भगवान् ब्रह्मसंबंध के बिना भी किसी के द्वारा की जाती सेवा स्वीकारते हों तो उन्हें रोका या टोका तो नहीं जा सकता! और ब्रह्मसम्बन्ध लिए हुए व्यक्ति की भी सेवा स्वीकारते हों तो उन्हें बाधित भी नहीं किया जा सकता है. और न कोई आक्षेप ही लगाया जा सकता है!

यदि हम भगवान् को सर्वसमर्थ मानते हों तो हमारे साधनों के बन्धन के भगवान् को बाँधा नहीं जा सकता. हमारे साध्य-साधन के नियम यदि भगवान् के लिए बन्धनकारी होते हों तो सारी बात खतम हो गई! क्योंकि तब तो भगवान् सर्वसमर्थ नहीं रहे!!

ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा की आवश्यकता

फिर भी पुष्टिमार्ग में ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा को आवश्यक माना गया है. अत: 'भगवत्सेवा का

अधिकार ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा के बिना प्राप्त नहीं होता,' यह भी कहा जाता है. बात वह कैसी अटपटी लगती है! है न?

कुछ स्पष्टता यहाँ अपेक्षित है. पुष्टि और पुष्टिमार्ग के बीच जो भेद है उसे भलीभाँति यदि हम समझ पाएं तो यह बात इतनी अटपटी नहीं लगेगी.

पुष्टि और पुष्टिमार्ग

'पुष्टि' शब्द का अर्थ है : भगवान की कृपा. 'पोषणं तदनुग्रहः'. परमात्मा की कृपा ही जीवात्मा का सच्चा पोषण है. अन्न से जैसे हमारे देह का पोषण होता है. पृथ्वी, जल, तेज, वायु से जैसे वृक्षों का पोषण होता है. आचरण से जैसे विचारों का पोषण होता है. ठीक उसी तरह परमात्मा की कृपा भी जीवात्मा का सच्चा पोषण है. इस आध्यात्मिक-आधिदैविक पोषण को ही श्रीमहाप्रभु 'पुष्टि' कहते हैं.

हम पृथ्वी, जल, तेज या वायु से यह नहीं कह सकते कि वे कदम या आम्र के वृक्षों का तो पोषण कर सकते हैं पर करील या बबूल के वृक्षों का नहीं. सभी तरह के वृक्ष एवम् वनस्पतियों का पोषण पृथ्वी-जल-तेज-वायु से होता है. सभी वृक्ष, सभी वनस्पतियाँ, सभी प्राणियों के देह, इन्हीं पाँच तत्व पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश के असंख्य नाम और रूप हैं. कदम की सुन्दरता या करील की कुरूपता का सिद्धान्त प्रकृति में नहीं है-- वह तो हमारे मन की उपज हैं. हमारे सुख-दुख या हमारे लिए इनकी उपयोगिता-अनुपयोगिता से जुड़ी हुई ये धारणायें हैं. पृथ्वी, जल, तेज, वायु या आकाश की प्रकृति में सभी कुछ स्वाभाविक है. प्रत्येक वस्तु में-प्रत्येक नाम एवम् रूप की उत्पत्तिस्थिति में उपचयअपचय में वृद्धिह्रास में या सन्ततिविनाश में-- एक अव्यक्त आनंद व्यक्त हो रहा है. न सुख और न दुःख, न सुरूपता और न कुरूपता, न श्रेष्ठता और न हीनता, न शुचिता और न अशुचिता, न पुण्य और न पाप.

ये सारी धारणाएं मानवीय ह्रदय, बुद्धि एवम् व्यवहार के लिए आवश्यक हैं और सत्य भी. परन्तु प्रकृति में तो सभी कुछ परमानंद ही है. वसन्त-वर्षा-शरद ऋतु जितनी सत्य है, उतनी ही ग्रीष्म-शिशिर हेमन्त भी सत्य हैं. हमें कोई ऋतु सुहाती है और कोई ऋतु नहीं भी सुहाती. हमें सूखा या बाढ़ नहीं सुहाते क्योंकि हमारे अन्न और घरों को इनसे नुकसान पहुँचता है. पर प्रकृति में सभी कुछ स्वाभाविक है!

इसी तरह परमात्मा की पुष्टि शिशुपाल पर होगी कि पूतना पर? प्रह्लाद पर होगी कि ध्रुव पर? कर्मयोगी पर, ज्ञानयोगी पर या भक्तियोगी पर होगी कि निःसाधन जीवात्मा पर? संसार से विरक्त साधक पर होगी कि संसार में अनुरक्त साधक पर? ऋषि-महर्षि-राजर्षि-देवर्षियों पर होगी कि व्रज के मुग्ध गोपगोपिकाओं पर होगी? केवल मनुष्य योनि में जनमी जीवात्माओं पर होगी कि अन्य योनियों में जनमे पशु-पक्षी, जीवजंतुओं पर भी होगी? और होगी तो क्यों होगी? उनके वर्तमान

जीवन को देखकर होगी कि उनके पूर्वजन्मों के संचित पुण्य या पापों के हिसाब को लगाकर होगी? किस रूप में होगी-- क्या उनकी निःसाधनता पर दया की जाएगी? या उनकी दुष्टसाधनता को क्षमा किया जाएगा? या उनके अल्पसाधनों पर भी परमात्मा तुष्टि प्रकट कर देंगे! या किसी भी तरह के साधन-असाधन-दुष्टसाधन के विचार के बिना भगवान शुद्ध पुष्टि प्रकट कर देंगे?

किस तर्क या किस सिद्धान्त को अकाट्य मान कर इन प्रश्नों का उत्तर दिया जाना चाहिए? कौन उत्तर दे सकता है इन प्रश्नों का!

स्वयम् परमात्मा भी अपनी पुष्टि या कृपा के निर्णय किन्हीं तर्क-संगत हेतु एवम् प्रयोजनों के आधार पर घड़ता है, या कृपालु होना उसका स्वभाव ही है! कहीं ऐसा तो नहीं कि वह कृपा उसका न तो स्वभाव ही हो और न हेतु प्रयोजनों पर अवलम्बित अस्वाभाविक तार्किक निर्णय ही! क्योंकि कृपा उस कृपासागर में अकस्मात् उठी एक तरंग भी तो हो सकती है!! अतएव वेद में कहा गया है : 'को अद्धा वेद क इष्ट प्रवोचत कुत आयाता कुत इयं विसृष्टिः..... योस्याध्यक्षः परमे व्योमनत्सो अंग वेद यदि वाद न वेद.'

कैसे कहा जा सकता है कि कृपा यह परमात्मा स्वभाव है या सामर्थ्य, या इन दोनों से भिन्न एक अकस्मात् उठी तरंग ही! क्या स्वयमेव परमात्मा जानता होगा कि वह क्यों किसी पर कृपा करता है और क्यों किसी पर नहीं? या कहीं ऐसा तो नहीं कि वह स्वयम् ही इस कृपा के रहस्य को न जान पाता हो!

शास्त्रों में सद्भाव-दुर्भाव, सन्मति-दुर्मति, सदाचरण-दुराचरण, पुण्य-पाप एवम् सुख-दुःख की मर्यादाओं का निरूपण मिलता है. जितना अधिक इन विधि-निषेधों पर विचार किया जाये उतना हमें ऐसे लगेगा कि इन भेदों पर आधारित कृपा के कुछ नियम अवश्य होने चाहिए. परन्तु जब पुराणों में भगवान् की कृपा के अनेक उदाहरणों पर दृष्टि पड़ती है तो लगता है कि कोई निश्चित नियम कृपा का बंध नहीं पाएगा. घबरा कर सोचने को विवश होना पड़ता है कि कृपा भगवान् की बाँधी हुई मर्यादा या नियम नहीं है. कृपा तो भगवान का स्वभाव ही होना चाहिए जो बिना किसी नियम की परवाह किये प्रकट हो जाता है. परन्तु फिर हम चूक जाते हैं, तर्क से परमात्मा के स्वभाव को निर्धारित करने के मोह में!

यदि कृपा परमात्मा का स्वभाव है तो वह यत्र-तत्र नहीं किन्तु सर्वत्र प्रकट होना चाहिए क्योंकि परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है-- सर्वसाक्षी है-- सर्वान्तर्यामी है-- सर्वफलदाता-- कर्ता-कारयिता है-- तो उसकी कृपालुता भी सर्वत्र प्रकट होनी चाहिए! पर होती नहीं!

सागर में लहरें तो निरंतर उठती रहती हैं पर कौन-सी लहर छोटी उठेगी और कौन-सी बड़ी, कितने क्षणों के अंतराल के बाद कैसी लहर उठेगी-- कैसे कहा जा सकता है? सागर में निरंतर

उठती लहरों की लय और उनकी मात्राओं को कौन गिन सकता है? कैसे हम सागर के तट पर जल और थल के बीच एक निश्चित सीमारेखा खींच पाएंगे? जो कुछ कहा जा सकता है, वह इतना ही कि कभी किसी लहर को हमने यहां तक आते नहीं देखा, परन्तु, 'नहीं आ पाएगी', ऐसा आश्वासन दिया नहीं जा सकता, शास्त्रीय मर्यादाओं की प्रामाणिकता भी इतनी सी ही है.

कृपा के बारे में शास्त्रीय नियमों की जो मर्यादा है, वह भी ऐसे ही प्रायोवाद पर आधारित है कि 'प्राय: समुद्र को इतनी दूरी तक आते देखा नहीं गया है. अत: किनारे पर यहां मकान बनाने में कोई भय नहीं है.' मगर यह सहज सम्भव है कि कभी कोई तूफानी लहर सागर में ऐसी भी उठे कि आपके सारे प्रायोवाद आपके मकानों की तरह ढह जाएं--बह जाएं--सभी कुछ जलमग्न हो जाएं! क्योंकि तटबन्धन अथाह सागर की एक लीला है-- उतनी ही वास्तविक जितनी कि तटभंग की लीला. प्रभु की लीला के ही ये दोनों रूप हैं : मर्यादा और पुष्टि. अत: इनके बीच विभाजक रेखा कोई खींच नहीं पाएगा. जब चाहे तब परमात्मा मर्यादा के तटबन्ध को पुष्टि की लहरों से ढहा सकता है! अन्यथा प्रायोवाद की प्रामाणिकता पर संदेह पैदा ही नहीं होता!

अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि भगवत्कृपा में यदि कोई नियम है तो वह भगवदिच्छा का.

पुष्टि का मूल भगवदिच्छा

चेतनवस्तु के व्यवहार पर आन्तरिक स्वभाव का नियंत्रण चलता है कि बाह्य प्रभावों का? कुछ भी कहा नहीं जा सकता. मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के नियम प्रायोवाद पर आधारित हैं. अब तो भौतिकशास्त्र भी 'प्रकाश की किरणें होती हैं या तरंग' इस जटिल समस्या का समाधान प्रायोवाद में ही दिया जाता है. जड़ और चेतना के बीच प्राय: यही भेद दिखलाई देता है कि जड़वस्तु के व्यवहार या तो आन्तरिक स्वभाव के अनुरूप होते हैं या बाह्य प्रभाव के अनुसार. परन्तु चेतना में झलकती इच्छाशक्ति इन आंतरिक स्वभाव और बाह्य प्रभाव के साथ आँखमिचौली का खेल खेलती रहती है!

खोजने का दाव जब आंतरिक स्वभाव पर होता है तो यह इच्छाशक्ति बाह्य प्रभाव के साथ किसी अनजाने कोने में जा छिपती है. स्वभाव खोजते-खोजते जब वहाँ पहुँचता है तो यह इच्छाशक्ति बाह्य प्रभावों की ओट में जा छिपती है. सामने पहले प्रभाव दिखलाई देता होने से वही पकड़ा जाता है. और दाव उसी गरीब पर आ जाता है! अब फिर यह इच्छाशक्ति आंतरिक स्वभाव को अपना साथी बनाकर पुन: किसी रहस्य के कोने में जा छिपती है. अत: बिचारा प्रभाव जब खोज पाता है तो पुन: स्वभाव ही सामने खड़ा हुआ दिखलाई देता है. अत: उस स्वभाव की ही बारी फिर से आ जाती है! इच्छा कभी पकड़ में आती नहीं. उसे केवल यहाँ-वहाँ दौड़कर दुबारा छिप जाना पसंद आता है. वह अपने पर दाव कभी नहीं लेती-- बड़ी चालाक होती है! स्वभाव हो या प्रभाव वह जिसे अपना साथी बनाती है, छिपने के लिए, उसी की ओट में जा छिपती है. कभी

पकड़ में आती नहीं और यह आंखमिचौली चलती रहती है!

श्रीमहाप्रभु अतएव कहते हैं कि कृपा भगवान् की स्वयमेव इच्छा पर अवलम्बित है, न बाह्य प्रभाव पर और न आन्तरिक स्वभाव पर ही!

परमात्मा सच्चिदानन्द हैं

परमात्मा का स्वरूप सच्चिदानन्द माना गया है. वह सत् चित् और आनन्द है. सत् के स्वभावों को परखा जा सकता है. चित् से उसे प्रभावित होना पड़ता है. सच्चित् के स्वभाव और प्रभाव की परस्पर लुकाछिपी में आनन्द की इच्छा भी साथ-साथ दौड़ती रहती है, छिपती रहती है, कभी पकड़ में परन्तु नहीं आती! सभी जड़ वस्तुओं में परमात्मा के सत् स्वभाव की अभिव्यक्ति होती है. सभी चेतनवस्तुओं में परमात्मा का चित् प्रभाव परिलक्षित होता है. और इनकी इस लुका छिपी में परमात्मा की आनन्द की अव्यक्त इच्छा कभी-कभार यहाँ-वहाँ दौड़ती हुई झलक-सी दिखला देती है और पुन: ओझल हो जाती है! क्योंकि परमात्मा सच्चिदानन्द है. अत: लीला चलती रहती है: मर्यादा की भी और पुष्टि की भी!!

परन्तु भगवदिच्छा से प्रकट होती पुष्टि के विविध उदाहरणों में और पुष्टिमार्ग के नियमों में थोड़ा अंतर है. यह अंतर थोड़ा सा होने पर भी बहुत महत्वपूर्ण अन्तर है.

कल्पना करिए कि आपके सामने एक विस्तृत मैदानी इलाका है. वहाँ दूर क्षितिज पर एक सुन्दर आकर्षक पर्वत है और आपको उस पर्वत के समीप पहुँचना है!

एक उपाय यह है कि पैदल चलनेवाले सैलानियों की तरह मनमानी दिशाओं में, कभी अनघड़ पगडंडियों पर, कभी ऊबड़-खाबड़ भूमि पर, कभी नदी-नालों को तैर कर पार करते हुए, तो कभी सुन्दर वनराजियों में से गुजरते हए, तो कभी कंटकाकीर्ण झाड़ियों में परेशान होते हुए पर्वत की दिशा में अग्रसर हुआ जा सकता है.

दूसरी सम्भावना यह भी है कि सरकार के रास्ता बनाने वाले अधिकारीगण ऐसे इलाके का सर्वेक्षण करके समतल भूभाग पर, नदी-नालों से बचाते हुए, अथवा उन पर पुल बनाकर, एक ऐसा मार्ग बना दें कि जिस पर न तो अधिक मोड़ हो और न ऐसे मार्ग पर चलते हुए कहीं दिशाभ्रम की, नदी-नालों को तैरकर पार करने की ही कोई आवश्यकता हो. जब मार्ग गाँव के भीतर होकर गुजरता हो तो उसपर गतिअवरोध (बम्पर) लगाये जाते हैं ताकि गाँवों में से गुजरते समय वेग के कारण कहीं कोई दुर्घटना न हो जाए. मार्ग पर जगह-जगह बायें-दायें मोड़ के, संकरे पुल या सर्पीले मार्ग के सूचनापट लगाए जाते हैं. यात्रा की दूरी तय करने को मील के पत्थर लगाए जाते हैं. पेड़ों के तनों को और चट्टानों को चमकीले रंग से रंगा जाता है, ताकि रात के अंधेरे में गाड़ी उनसे टकरा न जाए. कितनी सारी बातों को लक्ष्य में रख कर एक निरापद राजमार्ग बनाया जाता है!

जिन्हें जल्दी पहुंचना हो-- सुविधा से आश्वस्त होकर पहुंचना हो-- और निश्चिततया पहुंचना हो, वे तो राजमार्ग के सहारे चलना पसंद करेंगे. वे मार्ग के दोनों ओर विस्तृत बीहड़ मैदान में भटकना पसंद नहीं करेंगे. क्योंकि अनजानी दिशाओं वाले अनघड़ मार्गों पर भटकने के बजाय निश्चित दिशावाले साफ-सुथरे सुघड़ मार्ग पर चलना अधिक आसान है.

अब समझ लीजिए यह आकर्षक पर्वत स्वयम् भगवान हैं, जिनके समीप हमें पहुंचना है. सामने जो विस्तृत मैदान की बात कही थी वह भगवान की पुष्टि या कृपा है. इस मैदान में अनजानी दिशाओं में होकर गुजरनेवाली काम-क्रोध-द्वेष-भय आदि मनोवृत्तियों की अनेक अनघड़ पगडंडियाँ हैं.

इन्हीं पगडंडियों पर चलनेवालों में से कोई भगवान को विषपान कराने के द्वेषवश भगवान तक पहुंच गया था-- तो कोई सौ गाली देकर भगवान तक पहुंच गया था-- तो कोई भयभीत होकर बिना सोचे-समझे भगवान से दूर भागने की चेष्टा में सीधा भगवान से ही जा टकराया था!

गोप्यः कामात् भयात् कंसः
द्वेषात् चैद्य अथीरथी
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद्
यूयं भक्त्या वयं विभो !!

अर्थ : गोपिकाओं ने कामभाव से, कंस ने भयभीत होकर, शिशुपाल ने द्वेषभाव से, यादवों ने केवल सगे-सम्बन्धी होने के भाव से, तुमने स्नेहभाव से और हमने भक्ति भाव से उसे पाया है!

कर्म, ज्ञान, भक्ति, उपासना, वैराग्य, करुणा, सदाचार, यम, नियम आदि श्रेष्ठ साधनों के मार्ग पर अग्रसर होनेवाली जीवात्माओं को जैसे वह मिलता है, उसी तरह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि दुर्गुणों की दिशाओं में भटकनेवाली दुष्टसाधन जीवात्माओं के सामने भी वह इस पुष्टि के बीहड़ मैदान में कभी-कहीं अचानक प्रकट हो जाता है! वह किन-किन परिस्थितियों में और क्यों किसी भटकती जीवात्मा के समक्ष प्रकट हो जाता है यह उसकी इच्छा का विषय है.

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि भगवान का यह प्रकट होना पुष्टि है-- पुष्टिमार्ग नहीं. पुष्टि के इस मैदान में, उसके भलीभाँति सर्वेक्षण के बाद, सब तरह की पूर्ववर्णित सावधानियों के साथ जो मार्ग महाप्रभु ने प्रकट किया है, उसे 'पुष्टिमार्ग' कहते हैं.

एक मैदान में सभी दिशायें खुली हुई रहती हैं-- अतएव कहीं भी भटका जा सकता है. मार्ग की परन्तु, एक अपनी निश्चित दिशा और सीमा होती है. अतएव मार्ग पर से भटकना उतना सरल नहीं है. यदि कोई किसी मार्ग को बराबर पकड़ कर चलता रहे तो. पहले कही गई सभी

सावधानियों के साथ पुष्टि के मैदान में जो मार्ग बनाया गया उसे 'पुष्टिमार्ग' कहा जाता है.

पुष्टिमार्ग और निःसाधनताभाव

कुछ जीवात्मा सुसाधन होती है. कुछ दुष्टसाधन होती है. वैसे ही एक सम्भावना यह भी है कि कुछ जीवात्मा ऐसी भी हो सकती है कि उनमें न तो शास्त्रविहित साधनों को अपनाने का कोई उत्कर्ष हो और न ही उनमें शास्त्रनिन्दित साधनों को अपनाने का ऐसी जीवात्माओं को 'निःसाधन' माना गया है. ये न सुसाधन होती हैं और न दुष्टसाधन ही. अतः न तो ऐसी जीवात्माओं से शास्त्रीय साधनों का ही अनुष्ठान भलीभाँति शक्य होता है न इन जीवात्माओं में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद-मात्सर्य आदि दुर्गुणों के वशीभूत होकर शास्त्रनिन्दित साधनों को अपनाने की कोई दुराग्रहभरी वृत्ति ही होती है. अधिकांश जीवात्माएं निःसाधन ही पायी जाती हैं.

जो सहानुभूति और करुणा निःसाधन जीवों के प्रति महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य ने दिखलायी है वह अन्यत्र सुलभ नहीं है. विश्व के धार्मिक इतिहास में देखो तो पता चलेगा कि सुसाधन और दुष्टसाधन के अलावा एक तीसरे वर्ग निःसाधन जीवात्माओं पर किसी धर्म का उतना लक्ष्य नहीं पहुंचा है. ईसाईयों को लगता है कि जो स्वर्ग का दावेदार नहीं है वह नरकाग्नि का ईंधन होगा. मुसलमानों को लगता है कि जो मुसल्ले-ईमान नहीं वह काफिर होगा. जैन बौद्धों को लगता है कि जिसमें सम्यग्दृष्टि नहीं है उसकी असम्यग्दृष्टि होगी. समाजियों को लगता है कि जो आर्य नहीं तो म्लेच्छ ही होगा. साम्यवादियों को लगता है कि जो सर्वहारा नहीं है वह शोषक ही होगा. इन दो वर्गों के अलावा तीसरी संभावना का कोई विचार नहीं करता है.

क्रिश्चियन-- पेगान मुसलमान-- काफिर, सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि आर्य-म्लेच्छ, सर्वहारा-शोषक आदि भेद मूल में सुसाधन और दुष्टसाधन के ही भेद हैं. निःसाधन जीवात्माओं की चिंता कौन करता है! श्रीहरिरायजी अतएव कहते हैं:

निःसाधनजनोद्धारकरणप्रकटीकृतः ।।
गोकुलेशस्वरूपः श्रीवल्लभः शरणं मम ।।

महाप्रभु ने पुष्टिमार्ग को प्रकट करके इन निःसाधन जीवात्माओं को परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण तक पहुंच पाने में समर्थ बनाया है. यदि सच कहा जाये तो पुष्टिभक्त को पुष्टिप्रभु तक पहुंचाने के बजाय पुष्टिमार्ग पर चलाकर पुष्टिप्रभु को पुष्टिभक्त तक पहुंच पाने का मार्ग सुगम बना दिया है!

जीवात्मा अणु-आकार है. अतः पुष्टिमार्ग पर चल कर वह पुष्टिप्रभु तक पहुंचती है ऐसा कहा जाता है. और परब्रह्म तो सर्वव्यापी होने के कारण चलता नहीं-चल सकता भी नहीं है. फिर भी अपने परमात्मा होने के रूप में वह जीवात्मा के भीतर निवास करता है, अतः बाहर भी आ

सकता है. भगवान होने के रूप में वह व्यापिवैकुण्ठ में निवास करता है, अतः पुष्टिमार्ग पर चल कर पुष्टिभक्त तक पहुंच सकता है. पुष्टिमार्ग पर भगवान की दिशा में भक्त का एक डग भरना, भक्त की दिशा में भगवान के डग भरने के सिवा संभव नहीं!

पुष्टिमार्ग का गन्तव्य : व्रजाधिप श्रीकृष्ण

पुष्टिमार्ग का गन्तव्य व्रजाधिप श्रीकृष्ण है. अखिल ब्रह्माण्ड के नायक परब्रह्म परमात्मा भगवान, जब तक स्वयमेव क्षुद्र जीवात्माओं की दिशा में कुछ डग भर कर छोटे से गोकुलग्राम के नायक बनना पसंद नहीं करते, तब तक किसी भी जीवात्मा को अपने गंतव्य का बोध शक्य नहीं. जिन निःसाधन जीवात्माओं की दिशा में भगवान कुछ कदम आगे बढ़ना शुरू कर देते हैं, उन निःसाधन जीवात्माओं में रहा पुष्टिबीज दृढ़ होकर हृदय भूमि को पकड़ना शुरू कर देता है. दोनों के परस्पर एक-दूसरे की ओर और अधिक आगे बढ़ते रहने पर शनैः शनैः वही बीजभाव अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित, और फलित होने लगता है. अतएव कहा गया है:

> ***'निःसाधनफलात्मायं प्रादुर्भूतोस्ति गोकुले तत एवास्ति नैश्चिंत्यमेहिके पारलौकिके.'***

अर्थ : श्रीकृष्ण का गोकुल में प्रकट होना, निःसाधन जीवों को भी परमफल प्राप्त हो सकता है, इस तथ्य का आश्वासन है. अतः अब निःसाधन जीव अपने ऐहिक और पारलौकिक विषयों में निश्चिंत हो सकते हैं!

पुष्टिमार्ग में निःसाधनता और भक्ति का महत्व

जैसे कि भक्ति के अधिकार का निरूपण करते हुए भागवत में यह समझाया गया था कि लौकिक कामनाओं से विरक्त अधिकारी को ज्ञानयोग साधना चाहिए, लौकिक कामनाओं में अनुरक्त अधिकारी को कर्मयोग साधना चाहिए, परन्तु जो न अति विरक्त हो और न अति अनुरक्त हो ऐसे अधिकारी के लिए भक्ति योग श्रेयस्कर होता है. ठीक इसी तरह महाप्रभु को लगता है कि सुसाधन जीवों के लिये मर्यादा मार्ग पर्याप्त है और दुष्टसाधन जीवों के लिए प्रवाहमार्ग.

पुष्टिमार्ग, किन्तु प्रकट न हुआ होता तो निःसाधन जीव कहाँ जाते!

पुष्टिमार्ग को प्रकट करने का तात्पर्य यह नहीं है कि शास्त्रीय साधनाओं से सुसम्पन्न जीवों का पुष्टिमार्ग में उद्धार सम्भव नहीं; अथवा शास्त्रनिन्दित कामों में निरत जीवों के उद्धार करने की सामर्थ्य भगवान में नहीं है. निबन्ध ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही महाप्रभु ने यह खुलासा कर दिया है : 'सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा कृष्ण प्रादुर्बभूव ह.' कृष्ण तो सर्वोद्धारसमर्थ हैं. अतः सर्व के अन्तर्गत सुसाधन दुष्टसाधन और निःसाधन सभी जीव आ गए.

व्रजवासी सभी निःसाधन जीव थे. क्योंकि न तो उनमें शास्त्रीय साधनों के अनुष्ठान का कोई

उत्कर्ष था और न शास्त्रनिंदित आचरणों की ही उनमें कोई विशेष दुर्वृत्ति थी. सीधे-सादे, भोलेभाले लोग थे ब्रज के लोग : 'अहन्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण लोकं विकुण्ठमुपनेष्यति गोकुलं स्वम्'. दिन में अपने काम-काज में लगे रहने वाले और रात को थक कर सो जाने वाले, गोकुल के अपने गोप-गोपिकाओं के बीच भगवान ने वैकुण्ठ को प्रकट कर दिखाया था!

इस पुष्टि के मैदान में, इन निःसाधन व्रजभक्तों के निरन्तर आवागमन से, जो छोटी सी पगडंडियाँ बनीं, उन पर चलकर निरापद रूप में, अन्य भी निःसाधन जीवात्मायें श्रीकृष्ण तक पहुंच सकती हैं! अतएव उस छोटी सी पगडंडी का भलीभाँति सर्वेक्षण कर उसे पुष्टिमार्ग के रूप में मर्गायित कर दिया गया है. अतएव महाप्रभु आज्ञा करते हैं : 'कौण्डिन्यो गोपिका प्रोक्ताः गुरवः साधनं च तत्.' पुष्टिमार्ग में गुरु व्रज के भक्त हैं. उनके पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए व्रजाधिप कृष्ण की खोज में निकल पड़ना पुष्टिमार्ग है-- पुष्टिमार्ग की सच्ची दिशा का बोध!

मार्ग में अपेक्षित सावधानियाँ

इस पुष्टिमार्ग के निर्माण में महाप्रभु ने भी सभी तरह की सावधानियाँ बरती हैं-- सभी तरह के सूचनापट इस मार्ग पर लगाए गए हैं :

> ***यदा बहिर्मुखा यूयं भविष्यथ कथंचन ।***
> ***तदा कालप्रवाहस्थाः देहचित्तादयोप्युत ।***
> ***सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मानिति मतिर्मम ।***
> ***न लौकिकः प्रभु कृष्णो मनुते नैव लौकिकम् ।।***
> ***भावस्तत्राप्यस्मदीयः सर्वस्वश्चैहिकश्च सः।***
> ***परलोकश्च तेनायं सर्वभावेन सर्वथा ।।***
> ***सेव्यः स एव गोपीशः विधास्यत्यखिलं हि नः ।।***

तात्पर्य : यह जो मार्ग मैंने तुम्हें दिखलाया है उस पर भगवद्विमुख होकर चले कि तुम बहिर्मुखता में बहक कर गलत राहों पर भटक जाओगे! फिर तो काल प्रवाह की भीषण बाढ़ में तुम्हारे देह-चित्त-इन्द्रिय आदि बहने लग जाएंगे. पुष्टिमार्ग में भगवद्भिमुख भक्त को मुक्त होने से बचा लेनेवाले रक्षक ये देह-इन्द्रिय-प्राण-अंतःकरण ही कालप्रवाह की भीषण बाढ़ में बहने लगें तो भक्त के लिए भक्षक भी बन सकते हैं. बहिर्मुख होने पर तुम्हारी निःसाधनता ही दुष्टसाधनता में विकृत भी हो सकती है. लौकिक प्रयोजनों की पूर्ति के लिए कृष्णभजन करना कृष्ण को लौकिक विषय मानने के बराबर है. कृष्ण परन्तु कभी लौकिक भावों को पसन्द नहीं करते हैं. हम पुष्टिपथ के पथिकों का भाव तो यही होना चाहिए कि अपने तो ऐहिक-पारलौकिक सभी कुछ केवल वे ही हैं-- सर्वभाव से सेव्य एकमात्र श्रीकृष्ण हमारे लिए जो करते हैं सो उत्तम है!

ऐसे और भी अनेक सूचनापट इस मार्ग पर श्रीमहाप्रभु ने लगाए हैं. इनके अनुसार सावधानी के साथ पुष्टिमार्ग पर चलनेवालों को किसी दूसरे मार्ग की ओर ताकने की गरज रह नहीं जाती है. यह मार्ग सीधा-सरल-सुगम-सुनिश्चित एवम् सुन्दर है. पर पुष्टि के बीहड़ मैदान में भटकनेवाले सैलानियों के बारे में महाप्रभु किसी तरह का आश्वासन देने में असमर्थ हैं.

ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा पुष्टि के मैदान में नहीं किन्तु पुष्टिमार्ग में आवश्यक है

ब्रह्मसम्बन्ध-दीक्षा लेकर भगवत्सेवा में प्रवृत्त होना महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य के आश्वासन के साथ पुष्टिमार्ग पर अग्रसर होना है. बिना ब्रह्मसम्बन्ध की दीक्षा के भगवत्सेवा में प्रवृत्त होना पुष्टि के विस्तृत मैदान में सैलानी मनोवृत्ति से टहलना है. महाप्रभु के सिद्धान्त के अनुसार तो बस इतनी ही बात कही जा सकती है. जैसे किन्हीं स्त्री पुरुष को परस्पर जीवनसाथी बनना हो तो विवाह उसकी सामाजिक अनुमति है.

सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा श्रीकृष्ण को कोई रोक नहीं सकता है कि 'अमुक व्यक्ति बिना ब्रह्मसम्बन्ध लिये आपकी सेवा में प्रवृत्त हुआ है. अत: आप उसका उद्धार मत करना!' अपनी दया एवम् क्षमा के सामर्थ्य को प्रकट करते समय भगवान जब स्वयम् के शास्त्रनियमों की मर्यादा में नहीं बंधते, तो फिर उन्हें अन्य किस बंधन में बाँधा जा सकता है? पुष्टिमार्ग जो श्रीमहाप्रभु ने प्रकट किया है, उसमें भगवत्सेवार्थ ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा अनिवार्य है. भगवत्कृपा पाने के लिए ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा अनिवार्य नहीं है. क्योंकि भगवत्कृपा के कारण ही ब्रह्मसम्बन्ध घटित हो पाता है. मैदान न होने पर मार्ग कैसे बनाया जा सकेगा? स्वयम भगवान जब किसी का उद्धार करना चाहते हों तो गुरु एवम् गुरुदीक्षा अनिवार्य नहीं रह जाती. फिर भी उद्धार की आश्वस्त विधि में सद्गुरु, गुरुदीक्षा एवम् सत्सम्प्रदाय की एक अपनी महत्ता है ही.

किसी विद्यालय में अध्ययन करना हो तो आवेदनपत्र (Application form) भरना पड़ेगा. पर किसी विद्यालय में प्रविष्ट हुए बिना क्या विद्योपार्जन संभव नहीं है? विद्यालय के एक निश्चित वातावरण में आश्वस्त होकर, एक निर्धारित कार्यक्रम में विद्याध्ययन करना हो तो, आवेदन पत्र या परिचय पत्र आदि के अनेक नियमों की कुछ अपनी उपयोगिता भी है ही.

हमने देखा कि कैसे पुष्टि अर्थात् भगवान की कृपा एक विशाल मैदान की तरह होती है. हमने यह भी देखा कि पुष्टिमार्ग के अन्तर्गत पुष्टि के सभी उदाहरणों की गणना शक्य नहीं है.

पुष्टिमार्ग की अपनी सीमायें हैं. इन सीमाओं में रहकर परमात्मा की ओर अग्रसर होने वाले से परमात्मा के साथ द्वेषभाव रखने की बात सोची ही नहीं जा सकती. पुष्टि के मैदान में परन्तु भगवत्प्राप्ति द्वेषभाव से भी शक्य है. अर्थात् भगवान के साथ द्वेषभाव रखनेवाले को पुष्टि के मैदान में क्षमादान मिल सकता है किन्तु पुष्टिमार्ग पर चलनेवाले को नहीं. पुष्टि के मैदान में भगवान के स्वरूप में आसक्ति रखने के बजाय शास्त्रीय साधनों का आग्रह रखने वाले साधक

को उसके साधनानुष्ठान के अनुरूप या अधिक भी फल, भगवान के सन्तुष्ट या प्रसन्न होने पर, मिल सकता है. यह पुष्टि के मार्ग में भी संभव है पर अभिनन्दनीय नहीं.

हमने यह भी देखा कि श्रीकृष्ण ने अपने स्वरूप से व्रज के नि:साधन जीवों की संसारासक्ति अपनी ओर मोड़ ली थी. संसारासक्ति का अनासक्ति में परिवर्तन अथवा भगवदासक्ति में रूपांतरण दुष्कर होता है. योग के सभी करतब दिखला देनेवाले सिद्ध योगी भी इस करतब को दिखाने में चूक कर जाते हैं! फिर भी नि:साधन व्रजवासी सफल हुए थे! और उस सफलता का रहस्य, श्रीकृष्ण के वैसे स्वरूप और वैसी लीला के अलावा, अन्यत्र कहीं खोजना समय की बरबादी है.

नि:साधनता=भावभूमि, पुष्टि=बीजभाव तथा भक्ति =कल्पलता

यह नि:साधनता का भाव क्या है? नि:साधनता का भाव शास्त्रीय साधनों के अशक्यप्राय अनुष्ठान को यथाकथंचित पूर्ण करने की अहंकारभरी हठ नहीं है. नि:साधनता का भाव शास्त्रनिन्दित आचरणों में रचे-पचे रहने का मोह भी नहीं है.

जैसे ज्ञानमार्गियों के सन्दर्भ में ज्ञानप्रयुक्त 'निस्त्रैगुण्य' कहा जाता है वैसी ही एक सहज गुणातीत अवस्था नि:साधनता है. नि:साधनता की भावभूमि में भगवदनुग्रह का बीज यदि बोया हुआ हो तो बीज, लौकिक विषयों और शास्त्रीय साधनों के आग्रह से जीव को मुक्त कर, भगवत्प्रेम के रूप में कभी अंकुरित हो सकता है. अन्यथा आसुरी प्रवाही जीव में रहा नि:साधनता का भाव उसे भवप्रवाह में निरन्तर बहता हुआ भी बना सकता है; और दैवीजीव में रहा नि:साधनता का भाव उसे जीवन्मुक्त भी बना सकता है. अत: नि:साधनता की भावभूमि में भगवदनुग्रह का बीज भक्ति के अंकुरण की अनिवार्य शर्त है. व्रजभक्तों की नि:साधनता भगवदनुग्रह से ऐसी पुष्ट थी-- अत: भगवत्प्रेम, भगवदासक्ति, भगवद्व्यसन और भगवद्विषयक सर्वात्मभाव में वह अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित हो पायी थी.

पुष्टिमार्गीय दास्यभाव का स्वरूप

इस स्पष्टता के साथ अब यह समझना आवश्यक हो जाता है कि हमारे भीतर दास्यभाव की आवश्यकता क्या है? क्योंकि महाप्रभु आज्ञा करते हैं : 'पुष्टिमार्गे हरे: दास्यं धर्म:'

भगवान के प्रति दास्यभाव जगना हमारे भीतर स्वधर्मबोध के सूर्योदय होने पर ही संभव है. ब्रह्मसम्बन्ध-दीक्षा के अन्तिम अंशद्वारा यही भाव जगाया जाता है.

परन्तु पुष्टिमार्गीय दास्यभाव और अन्य द्वैतवादी धर्म-दर्शनमूलक दास्यभाव के स्वरूप में बहुत अन्तर है.

परमेश्वर के प्रति हमारे हृदय में दास्यभाव होना ही चाहिए. सभी ईश्वरवादी धर्मों तथा सम्प्रदायों में दास्यभाव की उपयोगिता स्वीकारी ही गई है : 'परमेश्वर' कहो, 'पशुपति' कहो, 'लॉर्ड' कहो,

'मालिक' कहो, कुछ भी कहो-- अपने-आपमें जीवात्मा के दास-पशु-सर्वेंट-बन्दा होने के भाव की कुछ आवश्यकता है ही.

यहां तक की कथा तो एक-समान है. बाद में जीवेश्वर-सम्बन्ध की कथा में, अलग अलग धर्मों में अलग-अलग मोड़ आ जाते हैं. महाप्रभु जीवात्मा को परमात्मा का दास मानते हैं-- दोनों के बीच घनिष्ठ शुद्धाद्वैत या तादात्म्य की स्वीकृति के साथ.

परमात्मा और जीवात्मा के बीच इस घनिष्ठ तादात्मय की स्वीकृति के कारण महाप्रभु दोनों बातें एक साथ कह पाते हैं :

(१) सभी जीवात्मायें परमात्मा की सहज दास हैं. अत: आत्मवादी-अनात्मवादी, ईश्वरवादी-अनीश्वरवादी मानव या मानवेतर योनियों में जनमी सभी जीवात्माओं में परमात्मा के प्रति निरुपधि-भाव अर्थात् निर्हेतुक प्रेम रहता ही है. फिर भी परमात्मा के स्वामी होने का और जीवात्मा के सेवक होने का भेद केवल रूपगत भेद है; तत्वगत नहीं. क्योंकि एक ही तत्व ने स्वामी और सेवक के दो रूप धारण किये हैं.

(२) भजन की प्रक्रिया में जीव में भोग्यभाव रहता है और भगवान में भोक्तृभाव. यह दोनों के सम्बन्धों की मर्यादा है. मर्यादा के अनुरूप जीव भगवान के अधीन रहकर भजन करता है. जब इस मर्यादा को तोड़कर भगवान भक्त के अधीन हो जाते हैं तो वह पुष्टि है. भक्त और भगवान के भक्तिमय सम्बन्धों के पुष्ट होने पर भगवान में भोग्यभाव प्रकट हो जाता है. वे भक्त को भोक्ता मानकर स्वयम् उसके अधीन हो जाते हैं. यह परस्पर भक्ति मय सम्बन्धों की परमात्मा के द्वारा की गई पुष्टि है. अत: इसे 'पुष्टि' कहा जाता है.

'कृष्णाधीना तु मर्यादा स्वाधीना पुष्टिरुच्यते'

जब भक्त को लगता है कि 'नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्!' तो यह मर्यादाभक्ति का भाव है. पुष्टिभक्त का भाव तो सर्वथा 'त्वं मामकीनोसि मदीय एव!'

अनत न जैये पिय रहिये मेरे ही महल ।
जोई जोई कहोगे सोई कर राखोंगी पहल ।।
शैया सामग्री वसन आभूषण सब विध करोंगी टहल ।
चतुरबिहारी गिरधारी पिया की रावरी यही सहल ।।

होगा कोई सर्वव्यापी परमात्मा, ज्ञानियों का! पुष्टिभक्त का आग्रह तो यही है कि 'रहिये मेरे ही महल अनत न जैये!

परन्तु परमात्मा की सर्वव्यापिता का क्या होगा? यदि वह किसी एक भक्त के भवन में निरुद्ध हो जाये!

भक्त को परन्तु इस बात की चिंता नहीं सताती. उसे चिंता सताती है. 'तुम मुझे छोड़ कर कहीं अन्यत्र चले जाओ यह कैसे सम्भव है!' अत: वह हठ पकड़ लेता है. 'रहिये मेरे ही महल!'

वस्तुत: जो सर्वव्यापी है वह कहीं जा थोड़े ही सकता है-- वह तो कभी-कहीं प्रकट हो जाता है तो कभी-कहीं छिप जाता है-- आता-जाता कहीं नहीं। अत: भक्त की हठ के सामने झुक जाने में भगवान का कुछ भी नहीं जाता. पर भक्त को कितना आनन्द मिल जाता होगा जब भगवान कह दें-- 'अच्छा लो तुम कहते हो तो अब कहीं नहीं जाऊंगा!'

उस कृपा के सागर में उठी यह लहर कैसी लहर होगी कि जो भक्त के देह, इन्द्रिय, अन्त:करण, आत्मा तथा अन्य भी सभी आत्मीय पदार्थों को अपने कृपामृत से आप्लावित कर देती होगी! उसे कितना रससिक्त रसार्द्र रसिक भक्त बना देती होगी! यह तो वह भक्त या स्वयमेव भगवान ही जान सकते हैं. अन्य कोई नहीं.

पुष्टि और पुष्टिभक्ति का अन्तर

जब उस कृपासागर में लहरें उठती हैं तो वह पुष्टि है; और उन लहरों के कारण यदि किनारे पर मुग्धभाव से खड़ा हुआ कोई जीव तर-बतर हो जाये तो वह आर्द्रता पुष्टिभक्ति है!

पुष्टिमार्गीय तथा मर्यादमार्गीय दास्यभाव

सर्वव्यापी परमात्मा का किसी जीवात्मा में निरुद्ध हो जाना पुष्टिमार्गीय दास्यभाव का चरमोत्कर्ष या फलितावस्था है.

द्वैतवादी दर्शनों पर अवलंबित धर्मों में मान्य दास्यभाव के चित्र में स्वामी और सेवक के दो रंगों की विरोधिता (Contrast) का एक चित्र में विन्यास है. जबकि शुद्धाद्वैतवादी दर्शन पर अवलंबित पुष्टिमार्गीय दास्यभाव के चित्र में स्वामी और सेवक के दो भिन्न-भिन्न रंगों के सामंजस्य (Combination) का एक चित्र में विन्यास है. रंगों की विरोधिता और सामंजस्य दोनों ही सुन्दर लग सकते हैं, परन्तु दोनों के बीच रहा अंतर समझना भी बहुत जरूरी है.

पुष्टिमार्गीय दास्यभाव एकमेवाद्वितीय परब्रह्म के शुद्धाद्वैत में लीलार्थ प्रकट हुआ : जीवात्मा और परमात्मा का ऐच्छिक द्वैत है!

भक्त और भगवान का ऐच्छिक द्वैत है-- पुरुष और पुरुषोत्तम का ऐच्छिक द्वैत है-- व्रजवासी और व्रजाधिप का एक मधुर ऐच्छिक द्वैत है!

दास्यभाव : केवलाद्वैतवाद और शुद्धाद्वैतवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर

इसी तरह केवलाद्वैत और शुद्धाद्वैत का अन्तर समझना भी आवश्यक होता है. केवलाद्वैत में जीवात्मा-परमात्मा, भक्त-भगवान्, पुरुष-पुरुषोत्तम, जगत्-जगदीश या प्रेमी-प्रियतम का द्वैत

मिथ्या माना गया है. शुद्धाद्वैत ये द्वैत मिथ्या नहीं है और न माया अविद्या-प्रयुक्त ही. अतएव इन द्वैतों को दु:ख या बन्धन रूप भी नहीं माना गया है. शुद्धाद्वैत में ये द्वैत वास्तविक परन्तु लीलार्थ गृहीत माने गये हैं. एक ब्रह्म के अनेक रूपों को धारण करने की मधुर, शुभ तथा परमानंदमयी इच्छा से प्रयुक्त ये द्वैत हैं-- मायाप्रयुक्त नहीं.

अतएव गद्यमन्त्र में ब्रह्मसम्बन्ध के समय जीवात्मा को परमात्मा से बिछुड़ने की बात याद दिलाई जाती है. इसका प्रयोजन अज्ञानप्रयुक्त द्वैत का निवारण करना नहीं है. वह केवलाद्वैत में अभीष्टतम सिद्धि मानी गई है. ब्रह्मसंबंध का वास्तविक प्रयोजन भगवान से बिछुड़ने के कारण हमारे भीतर पैदा हुई भगवद्विस्मृति को दूर कर जीवात्मा में विद्यमान सहज रति को जगाना है. जीवात्मा में परमात्मा से बिछुड़ जाने की विरहवेदना जग जाए तो उसे पुष्टिमार्ग पर चल पड़ने के जैसी बात मानी जाती है. जब यह विरह वेदना परमात्मा में जगती है तो वह केवल पुष्टि है, पर जब यह जीवात्मा में जग जाये तो उसे पुष्टिभक्ति समझना चाहिए. जब परमात्मा को ऐसा लगे कि यह जीवात्मा मुझसे बिछुड़ गई है तो परमात्मा में विरह वेदना जाग उठेगी! अपने यहाँ एक पद बहुत सुन्दर है, जिसमें यह कहा गया है कि अब भगवान को भी कुछ-कुछ समझ में आने लगा है कि मिल-बिछुरन की वेदन कैसी होती है : 'जानन लागेरि आलि मिल बिछुरन की वेदना!' यह पुष्टि की पराकाष्ठा है. पुष्टिभक्ति परन्तु जब जीव को प्रभु से बिछुड़ने की वेदना सताने लग जाये तभी समझनी चाहिए.

जीवात्मा और परमात्मा के बीच यह शुद्धाद्वैत है. इस शुद्धाद्वैत में जीवात्मा और परमात्मा के बीच रहे भेद को अवास्तविक मानने का कोई भी कारण नहीं है. भेद वास्तविक है पर रूपगत है--तत्वगत नहीं. जैसे सोने की अंगूठी और कंठी में रूपगत भेद होने पर भी तत्वगत भेद नहीं होता. सोना दोनों में इकसार ही रहता है. इस तरह परमात्मा और जीवात्मा के रूप भिन्न-भिन्न होने पर भी तत्वत: ब्रह्मगत सत्ता और चैतन्य एक ही होते हैं.

भक्ति वश परमात्मा भगवान और जीवात्मा भक्त बनते हैं

भक्ति के सम्बन्ध में परस्पर जुड़ने पर परमात्मा भगवान् बन जाता है और जीवात्मा भक्त. अतएव इस शुद्धाद्वैत पर अवलंबित भक्ति में दोनों के बीच घनिष्ठ तादात्म्य बना रहता है. भक्ति हो या ज्ञान इनका जैसा निखार दो के बीच तादात्म्य स्वीकारने पर आता है, वैसा निखार दो के बीच अत्यन्त भेद या अत्यन्त अभेद मानने पर संभव नहीं है.

न मामकीनस्त्वम्

अतएव अत्यंत अभेद माननेवाले श्रीशंकराचार्य उपासनार्थ द्वैत की कल्पना करके भी अन्त में ब्रह्म से यही कहते हैं कि वे ब्रह्म के हैं परन्तु ब्रह्म उनका हो नहीं सकता : 'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्. सामुद्रो हि तरंग क्वचन समुद्र: तारंग इति!'

त्वं मामकीनोसि मदीय एव!

जबकि कृष्णलीला के अनेक प्रसंगों में प्रत्येक भक्त को भगवान् के सर्वथा निजी होने के अनेकविध अनुभवों की पुष्टि हुई है. रास में नृत्य करनेवाली प्रत्येक गोपिका का स्वानुभव प्रमाण हैं कि कृष्ण केवल उसी के साथ नाच रहे थे. यदि कृष्ण प्रत्येक के साथ नाचने तैयार न हों तो-- 'रहिए मेरे ही महल' की हठ पकड़ने की हिम्मत कहाँ से वह जुटा पाती?

परमात्मा, जो सर्वत्र समभाव से विद्यमान है, वह किसी-एक जीवात्मा की ओर ढल जाये तो ऐसे निरोध को 'पुष्टि' कहते हैं. जीवात्मा, जो अनेक लौकिक विषयों में आसक्त रहती है वह उन सारे लौकिक विषयों को भूलकर, एकमात्र परमात्मा में आसक्त हो जाये तो ऐसे निरोध को 'पुष्टिभक्ति' कहते हैं. यह परस्पर एक-दूसरे में निरुद्ध हो जाना, दोनों के बीच विद्यमान घनिष्ठ तादात्म्य की स्पष्ट अनुभूति है. स्वामी और सेवक के इस रूपगत किन्तु वास्तविक भेद में एक तत्वगत तादात्म्य की यह अनुभूति बड़ी मधुर विलक्षण होती है.

दास्यभाव और तादात्म्यवाद

स्वामी और सेवक के बीच एक कठोर भेद की कल्पना करनेवाले द्वैतवादी अमिट दास्यभाव से यह विलक्षण है तथा मिथ्या भेद की कल्पना करनेवाले अद्वैतवादी मिथ्या दास्यभाव से भी भिन्न प्रकार का. यहाँ एक लचीला दास्यभाव श्रीमहाप्रभु के मत में मान्य हुआ है.

ऐसे लचीले भेद में ही, जैसे जीवात्मा को परमात्मा की भक्ति करने का व्यसन हो पाना शक्य है, वैसे ही परमात्मा को भी जीवात्मा की भक्ति से भावित होने का व्यसन भी श्रीमहाप्रभु शक्य मानते हैं. भगवान को भोग धरने में जैसे भक्त को आनन्द आता है, ऐसे ही किसी भक्त विशेष के द्वारा धरे भोग में भगवान को भी आनन्द आने लग जाता है : 'तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन:!' जैसे भक्त को भगवान के दर्शन किए बिना चलता नहीं है, ऐसे ही भगवान को भी भक्त को दर्शन दिए बिना रहा नहीं जाता! स्वामी भगवान जब अपने सेवक भक्त के इतने अधीन बन जाएं तो पुष्टिमार्गीय दास्यभाव फलित हो गया समझ लेना चाहिए.

इस अर्थ में श्रीमहाप्रभु कहते हैं : 'पुष्टिमार्गे हरे: दास्यं धर्म:' परन्तु उस अर्थ में नहीं कि जिस अर्थ में सूरदासजी श्रीमहाप्रभु से मिलने के पूर्व घिघिया रहे थे; और जब गाने को कहा गया तब भगवद्गुणों को गाने के बजाय अपने अवगुणों का गान प्रारम्भ कर दिया :

प्रभु! हौं सब पतितन को टीको
और पतित सब दिवस चारिके हौं तो जनमत ही को ।।
बधिक अजामिल गनिका तारी और पूतना ही को ।।
मोहि छांड तुम और उधारे मिटे सूल क्यों जी को ।।

कोउ न समरथ अघ करिबे को खैंचि कहत हौं लीको ।।
मरियत लाज सूर पतितन में मोहूंते को नीको ।।

जब कभी रोना ही हो तो यह भाव उचित और आवश्यक भी हो सकता है. पर जब गीत गाने के अवसर जीवन में उपस्थित होते हों, तब भी भगवद्गुण यदि सामने न आएं और अपने ही अवगुण यदि सामने आते रहें तो कुछ गड़बड़ है. अब गुणों के गान में अद्वैत का आनन्द प्रकट नहीं हो पाएगा. और जब रोने के अवसर जीवन में उपस्थित होते हैं, तब रोते-रोते भगवद्गुणों को याद करने पर अच्छी तरह रोया नहीं जा सकेगा. ऐसी स्थिति में अपने अवगुणों को याद कर लेना उचित ही होता है. अतएव श्रीमहाप्रभु को बेचैन होकर सूर को रोकना पड़ा कि 'सूर है के काहे घिघियात है? कछु भगवल्लीला गा!

परमात्मा केवल शुद्ध, बुद्ध मुक्त, निर्गुण निर्धर्मक, निराकार, निर्विशेष, निरंजन, ही केवल हो और जीवात्मा, अशुद्ध, बुद्ध, मायिक गुणोंवाली, मायिक आकारवाली, मायिक धर्मवाली, अविद्याप्रयुक्त विशेषताओं से भरी हुई संसारी ही मात्र हो तो घिघियाने की कुछ तुक हो सकती है. दिव्य परमात्मा और तुच्छ जीवात्मा के बीच कोई अमिट भेद की दीवार खड़ी हो तो घिघियाने की तुक समझ में आ सकती है. परन्तु जब एक-मेवाद्वितीय ब्रह्म केवल लीलार्थ ही दिव्य परमात्मा तथा तुच्छ जीवात्मा का रूप धारण करता हो तो फिर घिघियाने की क्या आवश्यकता है?

वास्तविक आवश्कता है: भावविभोर होकर परमात्मा के आनन्दाद्वैत में प्रकटी इस द्वैतलीला के परम-आनन्द के गुणों को गाने की!

अतिद्वैत और अतिअद्वैत से सावधानी

अतिद्वैतवादी और अतिअद्वैतवादी धर्मदर्शन हमारी तुच्छता की वास्तविकता का इतना अवास्तविक बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन कर देते हैं कि बिचारी जीवात्मा का घिघिया जाना एक स्वाभाविक परिणति है.

'मैं पापी हूं-- तू सर्वज्ञ सर्वसाक्षी है! मैं पतित हूं-- तू ही केवल उद्धारक है!! या 'मैं भी मलिन माया में प्रतिबिम्बित अशुद्ध आभास हूं और तू भी माया में प्रतिबिम्बित एक आभास मात्र ही है-- वस्तुतः, न मैं मैं हूं और न तू तू है!'

अरे हैं सो हैं! पर यह रोना-धोना क्या लगा रखा है? हम दीन हैं तो क्या फर्क पड़ता है? जब तक उसके उद्धारक होने में हमें सन्देह न हो! लीला में हम मलिन हैं तो क्या हुआ? जब तक उसके और हमारे बीच अद्वैतभाव पर हमें अनास्था न हो! आवश्यकता अपनी दीनता-हीनता-मलिनता-तुच्छता के गीत गाने की नहीं है. आवश्यकता है उसके और हमारे बीच रहे तादात्म्य

के मधुर सम्बन्धों के गीतों को गाने की! आवश्यकता है उसकी कृपालुता, दयालुता, क्षमाशीलता आदि दिव्य गुणों के मधुरगान की!! आवश्यकता है उसके स्वरूपसौंदर्य लीला-लावण्य और नाममाहात्म्य के गान की!!!

क्यों अपनी हीनता का रोना रोते हुए बैठे रहते हो? उठो, नाचो और उसकी महानता के गीत गाओ!

छोटे बच्चे अपने आप ठीक से कदम कहाँ रख पाते हैं? चलते-चलते गिर पड़ते हैं. इसीलिए तो अपनी माता या पिता की अंगुली पकड़कर उन्हें चलना पड़ता है.

अपनी माता की अंगुली पकड़कर चलनेवाले बच्चे के मुख को कभी निहारो-कितना विश्वास, कितना उल्लास तथा कितनी उपलब्धियों का भाव उसके मुख पर झलकता है!

कभी चलते-चलते थक नहीं जाता हो ऐसी बात तो नहीं है. थककर रो न देता हो ऐसा भी तो नहीं. हाँ परन्तु वह रोता है न चल पाने की अपनी असामर्थ्य पर नहीं; वह रोता है माँ के गोद में न लेने की बात पर ही! क्योंकि वह अपनी माता की ममता के बारे में आश्वस्त है. बच्चे का रोना या मचलना इसी ममता के उद्दीपन का एक उपाय है. अपनी असामर्थ्य का रुदन नहीं.

त्वमेव माता च पिता त्वमेव!

श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि जीवात्मा एक असमर्थ बालक जैसी होती है. और परमात्मा समर्थ माता के जैसा. अतः दोनों के बीच भेद हो सकता है. परन्तु जैसे बच्चे का शरीर माता के शरीर से बनता है, ठीक इसी तरह हमारी जीवात्मा भी अपने स्वरूप में व्युच्चरित होने से पहले परमात्मा के गर्भ में ही अवस्थित थी. जीवात्मा की सत्ता और चैतन्य स्वयम् परमात्मा की सत्ता और चैतन्य से बने हुए हैं. दोनों में घनिष्ठ तादात्म्य है. अतः घिघियाओ मत! परन्तु भावविभोर होकर इस लीला का गान करो : 'हम दीन हैं तो क्या हुआ-- वह हमारे अधीन हो सकता है-- जितनी एक माता अपने लाड़ले बेटे के अधीन रहती है.'

साधना के पथ पर तुम चलते हुए थक गए हो तो मचलना शुरू कर दो! वह तुम्हें गोद में उठाने के लिए सदा तत्पर है! घिघियाने की क्या बात है? जब यह ममतामयी माता तुम्हें समझा ही चुकी है कि 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः!' चलो-चलना भी सीखो! परन्तु थक जाओ तो घबराना मत-मुझे कह देना! मैं तुम्हें अपनी गोद में ले लूंगा. तुम तो मेरे लाड़िले हो.

पुष्टिभक्त भगवान का दास है पर घिघियाता नहीं.

पुष्टि के मैदान में भक्ति का मार्ग महाप्रभु भी इसी आश्वासन के साथ मार्गायित करना चाहते हैं. सभी पुष्टिजीव पुष्टिप्रभु के सहज दास हैं फिर भी घिघियाने की कोई आवश्यकता नहीं. पुष्टि

के मैदान में जब भक्ति मार्ग संवारा गया तो उसे 'पुष्टिभक्ति मार्ग' कहा जाता है.

माहात्म्यज्ञान से हृदयभूमि को जोतने पर पुष्टि के बीज भक्ति के रूप में अंकुरित होते हैं

श्रीमहाप्रभु को मान्य भक्ति की परिभाषा यही है कि भगवान और हमारे बीच रहे इस घनिष्ठ तादात्म्य की महत्ता एक बार अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिए. बाद में हृदय में रहा परमात्मा के प्रति हमारा निच्छल स्नेह स्वतएव प्रकट हो जाएगा, यदि हमारी हृदयभूमि में भगवान ने अनुग्रह के बीज बोये हों तो. माहात्म्यज्ञान से अपनी हृदयभूमि को एक बार अच्छी तरह जोत लेनी चाहिए. फिर तो परमात्मा ने जो अनुग्रह का बीज बोया है, वह थोड़े से ही भगवद्गुणों के श्रवण-स्मरण-कीर्तनरूपी सिंचन से अंकुरित होने लग जाता है :

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः ।
स्नेहो भक्ति रिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा ।।

फिर भी जिसे पुष्टिमार्ग की सुघड़ राह पर न चल कर पुष्टि के मैदान में अनघड़ पगडंडियों पर साहसिक यात्रा (Adventure) करनी सुहाती हो तो, वहाँ भी कोई रोकटोक नहीं है! चाहो तो शिशुपाल की तरह सुबह उठकर प्रतिदिन भगवान को निन्यानवे गाली देने का व्रत ले लो! शुरुआत में पूरी सौ गाली देना उचित न होगा! क्योंकि कहीं सौ की संख्या पूर्ण होने पर सचमुच ही भगवान का चक्र चल गया तो प्रारम्भ में बड़ी मुश्किल हो जाएगी!

जब गाली प्रदान की द्वेषमयी साधना सिद्ध हो जाए तब अंत में एक दिन सौवीं गाली देकर देखना कि क्या परिणाम निकलता है! परन्तु यह साधना किसी सार्वजनिक मन्दिर में जाकर करनी श्रेयस्कर नहीं होगी, क्योंकि यह सहज सम्भव है कि मंदिर में जुटे हुए दर्शनार्थी भगवान को मुक्तिदायक सुदर्शन चक्र चलाने का अवसर ही न दें-- वे स्वयं अपने कुदर्शन चप्पल-जूते ही कहीं मैदान में चलाने न लग जाएं!

काम, क्रोध, द्वेष आदि भाव पुष्टि में फलप्रद हो सकते हैं पुष्टिमार्ग में नहीं.

खैर, श्रीमहाप्रभु ऐसी साधना को पुष्टिमार्ग में मान्य नहीं करते हैं. वे इस तरह की साधना के बारे में किसी तरह की गारन्टी देने को तैयार नहीं है. श्रीमहाप्रभु के अनुसार यह सम्भव है कि तुम्हारी गालियों को भगवान इतनी तीखी मान लें कि सौवीं गाली के निकलते ही भगवान तुम्हें मुक्ति प्रदान कर दें. यह भी संभव है कि तुम्हारी गाली भगवान को लेशमात्र तीखी न लगे-- अर्थात् गाली का कुछ भी असर भगवान पर न हो.

भगवान कब किस जीवात्मा का और किस निमित्त से उद्धार करना चाहते हैं, इस बारे में कोई

भी सिद्धान्त या नियम बाँधा नहीं जा सकता है. पुष्टिमार्ग की परन्तु एक अपनी सीमा और दिशा होती है : निःसाधनभाव से भगवान की भक्ति करने की. 'भक्ति' का अर्थ है माहात्म्यज्ञान प्राप्त करके प्रभु में सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेहयुक्त होना.

पुष्टि के वृन्दावन में छिपे भगवान को खोजने के लिए, व्रजभक्तों के यहाँ-वहाँ घूमने से जो पदचिन्ह बने, उस अनघड़ पगडंडी की महत्ता को पहचानकर श्रीमहाप्रभु ने उसे एक सुघड़ मार्ग का रूप प्रदान कर दिया. व्रजभक्तों के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए-- उन पदचिन्हों की दिशा में आगे बढ़ते हुए-- शुद्धाद्वैतब्रह्मवाद की दार्शनिक माहात्म्य दृष्टि प्रदान करते हुए पुष्टिभक्ति मार्ग का निर्माण किया गया है. अतएव शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवाद पर आधारित पुष्टिमार्ग में व्रजभक्तों के भावों का अनुसरण आवश्यक माना गया है.

परमात्मा का माहात्म्य और जीवात्मा की निःसाधनता

पुष्टि के मैदान में काम-क्रोध-द्वेष के जैसे अनेक भावों की पगडंडियाँ हैं, वैसे ही निःसाधनभाव की भी एक पगडंडी है. 'भाव' का अर्थ होता है : भगवत्स्वरूप में रुचि, स्नेह, आसक्ति अथवा व्यसन. ये प्रेम की विभिन्न अवस्थाएं हैं. तदनुसार भगवान के स्वरूप में भाव हो, परन्तु साथ ही साथ शास्त्रविहित या शास्त्रनिषिद्ध साधनों को अपनाने का कोई आग्रह न हो तो उसे 'निःसाधनता' कहा जाता है, निःसाधनता के साथ भगवद्भाव 'निःसाधनभाव' कहा जाता है, व्रजवासियों ने न तो योग, यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय, संयम, वैराग्य जैसे उत्तम शास्त्रीय साधनों का अवलम्बन ही किया था; और न शास्त्रनिन्दित दुराचरण में रत रहने की ही उनकी कोई मनोवृत्ति दिखलाई देती है. जो कुछ दिखलाई देता है वह इतना ही कि एक दिन उनके गोकुल के संसार में कृष्ण जनमें और वे इतने मनोहारी थे कि सभी व्रजवासी उनमें आसक्त हो गए! निःसाधन तो थे ही और कृष्णजन्म के कारण कृष्णस्वरूप में आसक्त और हो जाने से सभी व्रजवासियों में निःसाधनभाव सिद्ध हो गया. कृष्णजन्म की घटना ने उन्हें इतना कृष्णासक्त बना दिया कि वे सोते-जागते उठते-बैठते सभी क्रियाओं को करते हुए कृष्ण के चिंतन-कीर्तन में लगे रहते थे.

वे जगते थे श्रीकृष्ण के मुख को निहारने के लिए. सोते थे श्रीकृष्ण के स्वप्नों में खोए हुए. खाना पकाते थे श्रीकृष्ण को खिलाने के लिए. माखन बिलोकर छुपाकर घर के कोने में कहीं रख देते थे कि चुपचाप आकर श्रीकृष्ण उसे चोर जाएं. श्रीकृष्ण के रूपलावण्य में, गुणमाधुर्य में तथा लीला-लालित्य में व्रजभक्तों का कायिक, वाचिक, मानसिक एवं आत्मिक निरोध सिद्ध हो गया था. अतएव भागवतकार कहते हैं :

तन्मनस्का तदालापाः तद्विचेष्टा तदात्मिकाः ।
तद् गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ।।

व्रजवासियों के मन, वाणी, प्राण और आत्मा सभी कुछ कृष्णमय हो गए थे. यह सिद्धि उन्हें संसार में रहते हुए ही मिली थी संसारत्याग करने पर नहीं.

व्रजभक्तों के जैसे निःसाधनभाव से भगवद्‌भजन

श्रीमहाप्रभु कहते हैं अपने घर संसार में तुम भी एक मनोभिलषित कृष्ण का स्वरूप पधरा लो, अब मनोभिलषित रूपवाला श्रीकृष्ण का स्वरूप तुम्हारे घर में पधारे तो उसे अपने परिवार में श्रीकृष्ण का जन्म मानो. अपने जीवन की सोने-जागने, कमाने-खाने, पहरने-ओढ़ने या स्नेह-उपेक्षा आदि की सभी क्रियाओं और व्यवहारों की अपने घर में विराजते कृष्णरूप की ओर मोड़ दो. सभी नदियाँ अलग-अलग दिशाओं में बहती होने पर भी अन्त में जैसे समुद्र में मिल जाती हैं, ठीक इसी तरह तुम्हारी सभी वृत्तियों का विषय-प्रयोजन कृष्ण को बनाओ!

सुबह जागो कृष्ण को जगाने के लिए. नहाओ उसे नहलाने के लिए. रसोई बनाओ उसे भोग धरने के लिए. व्यापार-नौकरी द्वारा कमाने जाओ तो अपने इस कृष्ण केन्द्रित संसार को चलाने के लिए, विवाह करो कृष्ण सेवा में सहयोगी की कामना से. संतति पैदा करो पर इसी कृष्ण केन्द्रित परिवार की वृद्धि की कामना से ही. और रात्रि में शयन भी करो तो कृष्ण के सपनों में खोने के लिए? यह कृष्णपरता, यदि हमसे जीवन में, निभ पाए तो हमारी निःसाधनता ही इस पुष्टि के मैदान में पुष्टिभक्ति का रूप धारण कर लेगी.

पहुंचना कहीं नहीं है, केवल टहलते रहना है

इस पुष्टिभक्ति के सुहावने मार्ग पर चलकर कहीं पहुंचने की आवश्यकता नहीं है. इस दिव्य मार्ग पर निरन्तर टहलते रहने में ही निर्भय-आनन्द की उपलब्धि हो जाती है. चरैवेति! चरैवेति!! चरैवेति!!!

भक्तकवि दयारामभाई कहते हैं :

दासपणे आनन्द छे ते नथी मळे जगदीश ।
ज्ञानीनुं सुख एवुँ मानजो पाग आशे छेदावे शीश ।।
शीश छेद्या पछी पाग कहां धारे ?
सहू मूर्ख को मनमा न विचारे !
जलने शो जलपाननो स्वाद ?
जन जुदो रही पामे आल्हाद !
सेवो श्रीकृष्ण कृपाल ।।

भक्ति मार्ग पर मिलने वाले प्रारंभिक पड़ावों के; तथा दिशासूचक एवं यात्रागति के सूचक सूचनापट भी श्रीमहाप्रभु ने लगाये हैं. इनके कारण यात्री अपेक्षित दिशा में अपनी यात्रा प्रगति से आश्वस्त होकर आगे बढ़ सकता है.

भगवद्‌भजन स्वधर्म है : आत्मबोध के आधार पर

श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि भक्ति का बीजभाव निजगृह में भगवत्कथामय एवं भगवत्सेवामय जीवनयापन करने से दृढ़ होता है. देहाभिमान-प्रयुक्त जो धर्म हैं, प्रारम्भ में उनका त्याग अच्छी बात नहीं है. देहाभिमानमूलक हमारे विभिन्न उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए हमें भगवद्‌भजन में प्रवृत्त होना चाहिए. हमारे वर्ण, आश्रम, परिवार, समाज/राष्ट्र, मानव और प्राणिमात्र के प्रति जो उत्तरदायित्व हैं उससे बचने का प्रयास भक्ति की प्रारंभिक अवस्था में श्रेयस्कर नहीं होता, अपितु पाषण्डपूर्ण ही होता है. साथ ही साथ इन देहाभिमानमूलक उत्तरदायित्वों को निभाने में इतना रच-पच जाना कि हमारे आत्मबोध पर अवलंबित स्वकर्तव्य भगवत्सेवा से ही हमें विमुख बन जाना पड़े वह भी अच्छी बात नहीं है. हमारे वर्ण, आश्रम, परिवार, समाज, राष्ट्र, मानव या प्राणिमात्र के प्रति जो उत्तरदायित्व हैं, वे अंततः हमारे देह के इन वर्ण, आश्रम आदि के साथ संबंधों पर ही अवलंबित हैं. भगवत्सेवा की आवश्यकता इन वर्ण, आश्रम आदि से संबंध रखने वाले देह को धारण करने के कारण नहीं, किन्तु परमात्मा हमारा अंशी तथा सहजस्वामी है; और हम जीवात्मा उस परमात्मा के अंश तथा सहज दास हैं, इस आत्मबोध पर अवलंबित है.

देहाभिमान बने रहने पर तन्मूलक धर्म की अनिवार्यता

अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि भक्ति का बीजभाव, निजगृह में अपने देहाभिमानमूलक धर्मों को निभाते हुए भगवान की सेवा कथा में परायण होने पर, दृढ़ होता है : 'बीजदार्ढ्य प्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः' (भक्तिवर्धिनी).

भगवत्सेवा और मानवसेवा

यूरोप-अमेरिका की हवा के बासी झोंके में साँस लेने में ताजगी माननेवाले, आजकल के कुछ पुष्टिमार्गीय प्रचारक भगवत्सेवा के बजाय मानवसेवा पर अधिक भार देने के आडम्बर की उपयोगिता पुष्टिमार्ग को प्रसिद्ध करने में मान बैठे हैं! मुझे इस प्रसंग में एक अमरीकी मासिक पत्रिका में छपा चुटकुला याद आता है--

'मेरी बहन, चिड़ियाओं को डाले जानेवाले अनाज का घर में पूरा हिसाब-किताब रखती है. और केवल उतने ही रुपए (!) प्रतिमास मानसेवा करने वाली संस्थाओं को भिजवा देती है. उसका कहना है कि 'अगर आप इन्सानों का पेट नहीं भर सकते तो पक्षियों को दाना खिलाना अंधरूढ़ि है.'

परोपकार स्वार्थ से श्रेष्ठ है पर कृष्णभक्ति से उत्तम नहीं है.

पुष्टिमार्ग में भगवत्सेवा की आवश्यकता मानवसेवा से अधिक है एवं मानवसेवा की आवश्यकता अपने व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ति से अधिक है. व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ति के प्रयासों पर परन्तु काबू पाए बिना, भगवत्सेवा की तुलना में मानवसेवा की महत्ता के आडम्बरभरे प्रवचन और आयोजन, मानों चिड़ियों का दाना मानवसेवी संस्थाओं को भिजवाने जैसी हास्यास्पद मनोवृत्ति है!

श्रीमहाप्रभु के मत में भगवत्सेवा अंधरूढ़ि नहीं है परन्तु एक विकसित दृष्टिकोण के साथ जिए जा सकनेवाली एक जीवनप्रणाली है. भगवत्सेवा श्रीमहाप्रभु के मत में, किसी निश्चित समय पर किया जानेवाला कर्मकाण्ड नहीं है. अतएव इसकी विभिन्न क्रमिक सूक्ष्म मनोवस्थाओं का विश्लेषण बहुत सुन्दर किया गया है : बीजभाव, प्रेम, आसक्ति, व्यसन, सर्वात्मभाव और अलौकिक सामर्थ्य. ये वे मील के पत्थर हैं जो पुष्टिभक्ति के पथ पर अग्रसर होने वाले पथिक को यात्रा के दरम्यान मिलते हैं.

जो उत्तरदायित्व वर्ण, आश्रम, परिवार, समाज, राष्ट्र, मानव या प्राणिमात्र के प्रति हमारे दैहिक सम्बन्धों के वश हमारे लिए अनिवार्य होते हैं; ऐसे अपने स्वधर्मों को निभाते हुए अर्थात् देहाभिमानमूलक अपने उत्तरदायित्वों को निभाते हुए हमें भगवान की सेवा और कथा में भी परायण रहना चाहिए.

भगवत्सेवा और भगवत्कथा में कुछ सावधानियाँ परन्तु अति आवश्यक होती है. भगवत्सेवा या भगवत्कथा का अन्तिम प्रयोजन अपने चित्त को भगवान में तल्लीन बनाना होता है. परन्तु जब हम भगवत्सेवा अथवा भगवत्कथा का अनुष्ठान भेंट-चन्दा एकत्रित करने के लिए लगा देते हैं तो सब चौपट हो जाता है!

श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि भगवत्सेवा अथवा भगवत्कथा दोनों का ही (अथवा दोनों में से किसी एक का ही) निर्वाह भलीभाँति यदि हमसे बन पड़े तो फिर कोई चिन्ता की बात नहीं है. सावधानी, परन्तु इसमें यही अपेक्षित है कि प्राण गले में आकर अटक क्यों न जाए पर भगवत्सेवा या भगवत्कथा भेंट-चन्दा एकत्रित करने के लिए नहीं करनी चाहिए. 'वृत्त्यर्थं नैव युंजीत प्राणैः कण्ठगतैरपि.'

केवल तनुजा या केवल वित्तजा सेवा जघन्य है

श्रीमहाप्रभु यह समझाते हैं कि चित्त का कृष्ण के साथ तन्मय हो जाना कृष्णसेवा है. यह तन्मयता प्राप्त होती है श्रीकृष्ण की तनुवित्तजा सेवा करने से. यहाँ यह दृष्टव्य है कि श्रीमहाप्रभु 'तनुजा सेवा' और 'वित्तजा सेवा' ऐसे सेवा के दो भेद नहीं करते हैं. जैसा कि चन्दा एकत्रित करने वाले बहुधा प्रचार किया करते हैं. भगवत्सेवार्थ किसी अन्य व्यक्ति से धन लेकर केवल देह से

भगवत्सेवा करनी भाड़ूती सेवा है. श्रीमहाप्रभु अतएव 'तनुजा-वित्तजा' न कह कर सुस्पष्ट शब्दों में 'तनु-वित्तजा' कह रहे हैं. अपे धन से तथा अपने देह से कृष्ण सेवा निभती हो तो करनी चाहिए. अन्यथा नहीं.

व्रजभक्तों की कृष्णसेवा रोजी-रोटी कमाने का साधन नहीं थी.

व्रजभक्तों के भावों का अनुसरण करते हुए जब व्रजाधिप की तनुवित्तजा सेवा में जुट जाएंगे तो यही हमारी सेवा एक दिन मानसीसेवा के रूप में फलित हो जाएगी. हमारे मन को भगवान के साथ तन्मय बनाने में सहायक बन जाएगी.

जब हमारी भक्ति व्यसनदशा पर पहुंचती हैं तो हमारी भगवत्सेवा तनुवित्तजा सेवा से आगे बढ़ कर मानसीसेवा के रूप में विकसित हो जाती है.

अतएव व्यसनदशा अथवा मानसीसेवा के सिद्ध होते ही हम अंतर्मन से भगवान की लीला और सेवा की अनुभूति को निरंतर संजोए रखने में सक्षम हो जाते हैं. अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं : 'कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता चेतस्तत्प्रवण सेवा तत्सिद्ध्यै तनु-वित्तजा.'

आज कल इधर चालीस-पचास वर्षों में पुष्टिमार्गीय प्रकाशनों में त्रिविध सेवा की बात बहुप्रचारित से हो गई है **(१) तनुजा सेवा (२) वित्तजा सेवा और (३) मानसी सेवा.**

श्रीमहाप्रभु के सिद्धान्त की इससे अधिक क्रूर हत्या और कुछ भी नहीं हो सकती है.

भगवत्सेवार्थ जब हम किसी को धन देते हैं तो ऐसी वित्तजा सेवा कभी भी मानसी सेवा के रूप में विकसित नहीं हो पाए. हमारे भीतर अहंकार पनप जाएगा कि मैंने सेवार्थ धन दिया है.

भगवत्सेवार्थ जब हम किसी का धन लेते हैं, तो ऐसी तनुजा सेवा भी कभी मानसी सेवा के रूप में विकसित नहीं हो पाएगी. हमारे भीतर भगवत्सेवा के द्वारा अपनी रोजी-रोटी कमाने की दुर्वृत्ति पनप जाएगी. हमारा स्वाभिमान भी खण्डित हो जाएगा.

भगवान की सेवा को 'फाइनेंस' करना या भगवत्सेवार्थ फाइनेंस लेना इससे अधिक जघन्य अध:पात का उदाहरण पुष्टिमार्ग में सम्भव नहीं है! वह निश्चय ही बड़ा दुर्दिन होगा जिस दिन पहली बार किसी पुष्टिमार्गीय के मन में यह व्याख्या उभरी होगी कि 'पुष्टिमार्ग में तीन तरह की सेवा होती है : **(१) तनुजा सेवा (२) वित्तजा सेवा (३) मानसी सेवा.'**

यह सरासर झूठ है-- सफ़दे झूठ! पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त में तीन तरह की सेवा का कोई स्थान नहीं है. केवल एक ही सेवा है : 'चेतस्तत्वप्रवणं सेवा.' चित्त की ऐसी भगवत्प्रवणता का उपाय है : निजगेह में निजपरिवार के साथ निजधन से तथा निजतन से सेवा करना, व्रजभक्तों के भावों की निजमन से भावना करते हुए. सेवा हमारे जीवन का एक नितांत निजी पहलू है.

उसे धन, यश या सम्प्रदाय के प्रचार का साधन बनाना निज पत्नी से वेश्यावृत्ति करवा कर पेट भरने की जैसी अधोगति है! एक बार ऐसी अधोगति होने पर मानसी सेवा की उच्च अवस्था प्राप्त नहीं हो पायेगी.

व्रजवासियों के लिए व्रजाधिप की सेवा पेट भरने के लिए अपनाया गया धंधा नहीं था. हें व्रजाधिप की सेवा व्रजभक्तों के निश्छल भावों का अनुसरण करते हुए करनी चाहिए. अन्यथा सेवा न करना बेहतर है. भेंट-चंदा एकत्रित करने के लिए भगवत्सेवा या भगवत्कथा करने वाले के लिए श्रीमहाप्रभु कहते हैं. 'मेरो ह्वै के जो देवद्रव्य खावेगो सो पतित ह्वै जायगो. मेरो नाहि कहावेगो!'

हमारा अधःपात

देवार्चन को आजीविका बनानेवाले को शास्त्र में अछूत माना गया चितिं च चितिकाष्ठं च तथा चाण्डालमेव च, स्पृष्ट्वा देवलकं चैव सवासा जलमाविशेद. देवार्चनपरो यस्तु वित्तार्थी वत्सरत्रयम्. स वै देवलको नाम हव्यकव्येषु गर्हितः.'

भगवत्सेवा और भगवत्कथा के द्वारा पुष्टिमार्ग में चंदा एकत्रित करनेवाले पुष्टिमार्ग के पाँच सौ वर्ष पूरे होने के बाद मार्ग की मुर्दाफरोशी करनेवाले पुष्टिमार्ग के प्रचारक हैं!

क्रियात्मिका सेवा में भावना का महत्व

मानसी सेवा सिद्ध होती है व्रजभक्तों के निश्चल भावों की भावना करते हुए निजी तन-धन से भगवत्सेवा करनेवालों को ही.

सेवा को कर्मकाण्डीय क्रियात्मकता से बचाने के लिए अर्थात् मनोयोग के साथ भगवत्सेवा के अनुष्ठान के लिए भगवान की तनुवित्तजा सेवा करते समय व्रजभक्तों के भावों की भावनाओं में मन लगाना आवश्यक होता है. अन्यथा भावरहित क्रिया लड्डू भोग धरने का लिखा हो तो एक मन लड्डू भोग धर देने में विकृत हो जायेगी. आवश्यकता एक मन भर लड्डू की नहीं किन्तु लड्डू जैसी मधुरता भरे हुए मन की है. शृंगार धराने को कहा जाए तो इतने शृंगार धरा देने कि भगवत्स्वरूप ही शृंगारों में ढँक जाए यह भावरहित क्रिया है. परिवार के साथ सेवा में तत्पर होने को कहा जाए तो सारे गाम को बुलाकर दर्शन-मनोरथ करवाने लगने में तनुवित्तजा सेवा का मानसी सेवा में विकास अवरुद्ध हो जाता है!

हमारे निजी घर में, पारिवारिक जनों के साथ, निज देह तथा निज धन का कृष्णसेवा में विनियोग करते हुए, व्रजभक्तों के भावों की भावना में निज मन को लगाने पर ही हमारी आत्मा में रोपित पुष्टिबीज शनैःशनैः भगवत्प्रेम के रूप में अंकुरित हो जाएगा. भगवदासक्ति के रूप में पल्लवित हो जाएगा. भगवद्व्यसन के रूप में खिल उठेगा. जैसे ही हमारे मन को भगवान का व्यसन हुआ नहीं कि हम जो तनुवित्तजा सेवा भगवत्स्वरूप की कर रहे होंगे, वह मानसी सेवा के रूप में

फलित हो जाएगी. भगवद्व्यसन के सिद्ध होने पर भगवान की कथा का श्रवण-स्मरण-कीर्तन भी परोक्ष अनुभूति न रहकर भगवान के स्वरूप और लीला की मन में अपरोक्ष साक्षात् अनुभूति का स्वरूप धारण कर लेंगे.

भगवद्व्यसन के साथ भगवद्भजन पुष्टिजीव के लिए चरम उपलब्धि है

भागवत में रासपंचाध्यायी के बाद जो युगलगीत का वर्णन आया है, वहां यह दिखलाया गया है कि कैसे व्रज की गोपिकाओं को व्रज में रहते हुए ही वृन्दावन में भगवान के द्वारा की जानेवाली लीलाओं के दर्शन हो जाते थे!

भगवान के स्वरूप और लीला का यह आंतर दर्शन न तो कोई दिवास्वप्न था. न यह भांग-अफीम के सेवन से पैदा होनेवाली भ्रान्ति के जैसी कोई भ्रान्ति ही थी. जैसे योगसाधना में ध्यान-धारणा की जाती है, वैसे ही भक्ति साधना में की जाती केवल भावना भी तो वह नहीं थी. जैसे योगियों में योगसामर्थ्य से दूरवर्ती देश-काल में विद्यमान वस्तु को देख पाने की यौगिक सामर्थ्य विकसित हो जाती है-- ऐसे ही यह व्रज में रहते हुए भी दूर वृन्दावन में भगवान के द्वारा की जाती लीला को देखने-सुनने, सूँघने-स्पर्श आदि कर पाने का एक अलौकिक सामर्थ्य था.

व्रजभक्तों के भावों की भावना करते हुए जब हम भगवान की तनुवित्तजा सेवा करने लगे, तो वैसी तनुवित्तजा सेवारूप बाह्यक्रिया को संपन्न करते-करते ही, वैसी भावनाओं में बहता हुआ हमारा मन एकदिन अकस्मात् अलौकिक सामर्थ्य तक पहुंच जाता है. अलौकिक सामर्थ्य प्राप्त होने के बाद सेवा केवल बाह्यक्रियात्मि का न रह कर मानसी सेवा के रूप में फलित हो जाती है. अलौकिक सामर्थ्य प्राप्त होने के बाद भगवत्कथा का कीर्तन केवल परोक्ष अनुभूति की सीमा में सीमित न रह कर साक्षात् अनुभूति के रूप में फलित हो जाता है, यह साक्षात् अनुभूति यद्यपि आंतर ही होती है परन्तु केवल स्मरण या भावना की सीमा में सीमित न रह कर दर्शन, श्रवण, स्पर्शन, आघ्राण, आस्वादन आदि अनेक रूपों में अन्तर में अनुभूत होने लग जाती है. इसे श्रीमहाप्रभु 'आन्तर रमण' कहते हैं: 'आंतर तु परं फलम्.'

'आंतर रमण' की सिद्धि भगवत्कथा की फलितावस्था है. व्रजभक्तों को यह सिद्ध थी अतएव युगलगीत के प्रसंग में, भागवत में, हम देख सकते हैं कि व्रज में बैठे हुए उन्हें भगवान की वृन्दावनलीला की अन्तर में साक्षात् अनुभूति होती थी.

भगवान कैसे गोचारण करते हैं-- कैसे गायों को बुलाते हैं-- कहाँ वृक्ष के नीचे कभी गोपबालकों के साथ क्रीड़ारत हो जाते हैं-- तो कहां कभी परिश्रान्त होकर किसी सखा की गोद में मस्तक रखकर शयन करते हैं-- कैसे वन के पुष्प-पल्लवों को अपनी पाग के पेचों में सजाते हैं--तृषार्त होने पर कैसे यमुना जल का पान अंजली से करते हैं--कैसे कभी-कभी मयूर-वानरों के साथ नृत्य या क्रीडोपहास करते हैं इत्यादि सभी कुछ व्रजभक्तों को अलौकिक सामर्थ्यवश व्रज में बैठे-

बैठे ही दीख जाता था.

अलौकिक सामर्थ्य

अलौकिक सामर्थ्य विकसित होने पर भगवान की सेवा या कथा में देश-काल-द्रव्य आदि के बंधन रह नहीं जाते. स्वयम् भगवान भी नयनों के सम्मुख पधारें या नयनों से दूर पधारें, भक्त अपनी आंतरिक दृष्टि के सामर्थ्य से सदा ही भगवान के सन्निहित होने का अनुभव करता रहता है. और संयोग और वियोग की विभाजक रेखा मिट सी जाती है. भक्त को वियोग में भी भगवत्संयोग की अनुभूति होने लग जाती है.

सेवा के अवसर या अनवसर दोनों में ही भक्त का मन भगवान में इतना तल्लीन रहता है कि मानसी सेवा चलती रहती है.

प्रियतम भी परमात्मा और प्रेम भी परमात्मा!

इस उत्कृष्ट अवस्था में भक्त के सभी मनोरथ भावानुभूति की तीव्रता के कारण परिपूर्ण होते रहते हैं. भक्त के भाव और विभाव अर्थात् भगवत्प्रेम और प्रियतम-भगवान स्वयं एक ही तत्व के दो पहलू हैं. रसखान कहते हैं :

प्रेम हरिको रूप है त्यों हरि प्रेम सरूप ।
एक होई द्वै यों लसै ज्यों सूरज अरु धूप ।।

अतः नयनों के सम्मुख जब भगवान विभाव के रूप में अर्थात् प्रियतम के रूप में दर्शन न देते हों अथवा भक्त के हृदय में भाव के रूप में अर्थात् प्रेम के रूप में भीतर ही भीतर आन्तरणरमण में प्राप्त होती भगवान की स्वरूपानुभूति या लीलानुभूति सर्वथा भक्त के भावमय मनोरथों के अनुरूप होती है. अतएव इस अवस्था में भगवान सर्वथा भक्त के अधीन हो जाते हैं!

स्नेहमूलक स्वामिसेवकभाव है भयमूलक नहीं

भक्त और भगवान के बीच एक विलक्षण सम्बन्ध विकसित हो जाता है. स्वामी स्वामी ही रहता है परन्तु होता है सेवक के अधीन. सेवक सेवक ही रहता है परन्तु बन जाता है वह स्वाधीन! अतएव श्रीमहाप्रभु ने कहा है:

'कृष्णाधीना तु मर्यादा स्वाधीना पुष्टिरुच्यते'

इस अर्थ में श्रीमहाप्रभु दास्यभाव को पुष्टिमार्गीय धर्म कह रहे हैं : 'पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मः' और इसी दास्यभाव का निरूपण चतु:श्लोकी के प्रथम श्लोक में किया गया है.

पुष्टिमार्गीय धर्म का स्वरूप

सर्वदा सर्वभावेन
भजनीयो व्रजाधिपः
स्वस्यायमेव धर्मो हि
नान्यःक्वापि कदाचन ।।१।।

अन्वयार्थ :

सर्वदा प्रत्येक काल में **सर्वभावेन** हर भाव के साथ **भजनीयः** हमारे लिए भजनीय **व्रजाधिपः** नि:साधन व्रजभक्तों के स्वामी श्रीकृष्ण ही हैं. **स्वस्य** अपना तो **धर्मः** कर्तव्य **अयमेव** यही है. **अन्यः** व्रजाधिप के अलावा अन्य कोई कर्म **क्वापि** कहीं भी **कदाचन** कभी भी न हमारे लिए धर्म नहीं है ।।१।।

सदा / सर्वभाव (सभीभाव, कोई भी भाव, पूर्णभाव, भगवद्रुचि, सर्वात्म भाव) / व्रजाधिप / भजन का उपदेश है; आदेश नहीं / नान्यः क्वापि कदाचन / एकान्तभक्ति और अनन्याश्रय / मननीय भावना.

पुष्टिमार्गीय धर्म का स्वरूप

सर्वदा

व्रजाधिप का भजन हमें सर्वदा करना चाहिये. 'सर्वदा' का अर्थ होता है सभी समय. सभी समय का अर्थ प्रतिदिन भी हो सकता है और प्रतिक्षण भी.

अब प्रतिदिन तो किसी तरह थोड़ा-बहुत समय निकाल कर भजन करना शक्य है, परन्तु प्रतिक्षण भजन की बात तो सर्वथा अशक्य लगती है. पर यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि भजन कोई कर्मकाण्ड तो है नहीं कि किसी निश्चित समय पर कर लिया तो पुण्यलाभ हो जायेगा और फिर दिनभर छुट्टी ! श्रीमहाप्रभु के मत में भजन एक जीवन-प्रणाली है.

श्रीमहाप्रभु के अनुसार भगवद्भजन निजगृह में करना चाहिये - किसी सार्वजनिक मन्दिर में नहीं.

भगवद्भजन अपने परिवारिक जनों को साथ लेकर करना चाहिये-- आम जनता को दर्शन कराने के लिये नहीं; अथवा वेतनभोगी कर्मचारियों द्वारा भगवत्सेवा का भावहीन कर्मकाण्ड सम्पन्न करवाने के लिए नहीं.

श्रीमहाप्रभु के मत में भगवत्सेवा 'तनुवित्तजा' अर्थात् निज के तन और धन से करनी चाहिये - पराये धन से तनुजासेवा अथवा पराये तन से वित्तजासेवा करना सिद्धान्तविरुद्ध है.

व्रजभक्तों के भावों की भावना भगवद्भजन करते समय, मन में गोप्यतया करनी चाहिये - भावों के भोंडे प्रदर्शन यानि मनोरथों के आम जनता को दर्शन कराना, रसात्मक प्रभु की रसात्मिका सेवा में शुद्ध रसाभास ही है.

श्रीमहाप्रभु के मतानुसार भगवत्सेवा के मूल में आत्मनिवेदन और सर्वसमर्पण की भावना अपेक्षित है, क्योंकि इस भावना के कारण निज का तथा निज की प्रत्येक वस्तु का, घर में विराजमान भगवत्स्वरूप की सेवा में, विनियोग शक्य है-- व्यापारिक पद्धति पर चलते सार्वजनिक मन्दिरों में भेंट चढ़ानेपर या दान-धर्मादा करने की रीत में, निज उपभोग में आनेवाले अन्न, वस्त्र, आभूषण, गृह, परिवार आदि भगवत्सेवोपयोगी नहीं बन पाते.

भावप्रवण रह पाने की अपनी सामर्थ्य से न्यून सेवा एक आत्मवंचना है. परन्तु भावप्रवण रह पाने की सामर्थ्य से अधिक सेवा, यदि आत्मवंचना नहीं तो, जगवंचना या जगदीशवंचना होती है. अत: श्रीमहाप्रभु का कहना है कि भगवत्सेवा करने में न्यूनता या अधिकता का कोई सिद्धान्त नहीं है, भगवत्सेवा उतनी ही करनी चाहिये कि जितनी भावविभोर होकर हम कर पायें.

इससे यह सिद्ध होता है कि सेवा एक सहज तथा सर्वांगपूर्ण जीवन-प्रणाली है. 'सहज प्रीति गोपाल ही भावे !'

भगवत्सेवा करनेवाले भक्त के सभी व्यवहार सोने-जागने, कमाने-खाने अथवा स्नेह, उपेक्षा आदि के भगवद्भाव से प्रेरित तथा भगवत्सेवा के अंगभूत होने से भगवत्सेवारूप ही होते हैं.

इस अर्थ में सेवा का अनुष्ठान सर्वदा शक्य है.

सर्वभाव

सर्वभाव से व्रजाधिप का भजन करना चाहिये. 'सर्वभाव' शब्द के कई अर्थ हो सकते हैं :

१. *सभी भाव*
२. *कोई भी भाव*
३. *पूर्ण भाव*
४. *सर्व-सभी इन्द्रियों की भाव-भगवान में रुचि*
५. *सर्वात्मभाव*

१) अपने माता-पिता, बन्धु-बान्धव, धन-विद्या, कीर्ति-सुख आदि सब कुछ भगवान ही है, ऐसा अनन्यभाव भगवान में रखते हुए उनकी सेवा करनी चाहिये. यह 'सर्वभाव-सहित-भजन' कहलाता है. रास के प्रारंभ में यह भाव व्रजभक्तों का भगवान के सम्मुख प्रकट हो गया था. भगवान गोपिकाओं को समझा रहे थे कि उन्हें पुन: अपने-अपने घर लौट जाना चाहिये. क्योंकि स्त्रियों का स्वधर्म अपने पति-सन्तति तथा बन्धु-बान्धवों का अनुर्वतन है. परन्तु गोपिकाओं ने

विनम्र प्रतिवाद किया.

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरंग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ।।

अर्थ : अपने पति, पुत्र, बान्धवों का अनुवर्तन स्त्रियों के लिए स्वधर्म होता है, ऐसा उपदेश जो आप कर रहे हैं, वह हमें शिरोधार्य है ! क्योंकि हमारे लिए तो सब कुछ आप ही हो. हमारे प्रियतम सभी देहधारियों की आत्मा-बन्धु-बान्धव सभी कुछ आप हो. तब आप को छोड़ कर और कहाँ जायें ?

गोपियों के सर्वभाव का यही स्वरूप था कि केवल श्रीकृष्ण ही उनके लिए सर्वस्व थे.

२) अपने हृदय में आरूढ़ किसी भी एक भाव के साथ भजन करना चाहिये. उदाहरणतया हृदय वात्सल्यभाव के रंग से रंगा हुआ हो तो बालकृष्ण की वात्सल्य भावात्मि का सेवा करनी चाहिये. मधुरभाव यदि हृदय में लहराता हो तो मदनमोहन को अपना प्रियतम मानकर भी भजन किया जा सकता है. हृदय में दास्य भावोचित दैन्य रहने पर गोकुलाधीश को अपना स्वामी बनाकर सेवकभाव से भी सेवा की जा सकती है. हृदय में शिष्यभाव भरा हुआ हो तो जगद्गुरु श्रीकृष्ण की आचार्य भाव से भी सेवा हम शिष्य के रूप में कर सकते हैं.

बिना किसी भी भाव के, सेवा की केवल बाह्य क्रिया सम्पन्न करने के बजाय, किसी भी एक भाव के साथ भगवत्सेवा करने का एक अपना अलग आनन्द है !

३) मैं और मुझसे सम्बन्धित सभी कुछ भगवान का है, ऐसे सर्वात्मना आत्मसमर्पण का भाव 'पूर्णभाव' कहलाता है.

सब कुछ जब भगवान को समर्पित किया हो तो अपनी अहन्ता और ममता से जुड़ी सभी बातों का भगवत्कार्य में विनियोग भी होना ही चाहिये. ब्रह्मसम्बन्ध की दीक्षा में इसी पूर्णभाव के उद्बोधन का प्रयास है.

ऐसे पूर्णभाव के साथ भगवत्सेवा करनी चाहिये.

४) सर्व-सभी इन्द्रियों का भाव-भगवान में रुचि रखते हुए भगवत्सेवा करना, पुष्टिमार्ग में भक्तियोग की सिद्धि, अर्थात् 'निरोध' कहलाता है.

आँखों की भगवद्दर्शन में रुचि--कानों की भगवत्कथा के श्रवण में रुचि--वाणी से भगवद्गुणानुवादों के कीर्तन में रुचि--रसना की भगवत्प्रसाद के ही आस्वादन में रुचि--नासिका की भगवत्प्रसादी

तुलसी-पुष्प आदि की सुगन्ध-ग्रहण में रुचि--हाथों से भगवत्कार्य को सम्पन्न करने की रुचि--पैरों से भगवत्कार्यार्थ गतिशील रहने की रुचि-पायु से भगवत्सेवोचित शरीर को शुद्ध बनाये रखने की रुचि-उपस्थ से भगवत्सेवार्थ सहयोगी सन्तति प्राप्त करने की रुचि-त्वचा से भगवत्स्वरूप के स्पर्श के आल्हाद की रुचि-मन से भगवत्स्वरूप की भावना में रुचि-बुद्धि से भगवद्विषयक निश्चय संशय विपर्यास स्मृति और स्वप्न की अनुभूतियों में खोये रहने की रुचि-अहंकार से 'दासोहम्' वाली अस्मिता को निभाये रखने की रुचि - चित्त में भगवदेकतानता को निरंतर बनाये रखने की रुचि के साथ जब हम भगवत्सेवा में तत्पर हो जाते हैं, तो श्रीमहाप्रभु का कहना है कि इस अवस्था से बढ़कर न तो कोई मन्त्रसाधना श्रेष्ठ है, न कोई स्तोत्रपाठ श्रेष्ठ है, न कोई विद्या श्रेष्ठ है; और न कोई तीर्थयात्रा ही ऐसी भगवत्सेवा से श्रेष्ठ हो सकती है !

श्रीमहाप्रभु कहते हैं :

हरिमूर्तिःसदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा ।।
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।
पायोर्मलांशत्यागोन शेषभागं तनौ नयेत् ।।
यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्ट न दृश्यते ।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ।
नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ।
नात : परतरा विद्या तीर्थं नात : परात्परम् ।।

(निरोधलक्षण)

भक्तकवि रसखान ने भी इसी आशय का एक मनोहर रसिया गाया है :

बैन वही उनको गुन गाई
ओ कान वही उन बैन सों सानी ।
हाथ वही उन गात परै
अरु पाँय वही जु वही अनुजानी ।
जान वही उन प्रान के संग
औ मान वही जु करे मनमानी ।
त्यों 'रसखानि' वही रसखानि
जु है रसखानि सो है रसखानि ।।

ऐसी रसात्मिका अवस्था के साथ चित्त का भगवान में तल्लीन-निरुद्ध हो जाना सर्वभाव के साथ सेवा का एक स्पृहणीयतम स्वरूप है.

(५) सर्वात्मभाव के साथ भगवद्भजन हो पाना भी सर्वभाव के साथ भजन का एक तात्पर्य हो सकता है. सर्वात्मभाव जीवात्मा की चेतना में चरम अवस्था की उपलब्धि है.

ज्ञानमार्ग में ज्ञानी के ज्ञान का विकास सर्वात्मभाव तक ही सम्भव है. यदि सर्वात्मभाव से एक भी डग आगे भर दिया तो ज्ञानी ज्ञानी न रह कर अक्षरब्रह्म में लीन हो जायेगा! सारा जगत ब्रह्म के नाम रूपों की विविधता का विस्तार है. हमें नाम-रूप का अनुभव तो होता है परन्तु वह परमतत्व जिसके ये अनन्तकोटि नाम-रूप हैं वह अनुभूत नहीं होता. नाम और रूप के परदे में ही परमतत्व छिपा हुआ रहता है. ज्ञानमार्ग में सर्वात्मभाव की अवस्था में ज्ञान के विकसित होने का मतलब है : इन नामरूपों के द्वैत में उस परमतत्व के अद्वैत की अनुभूति. **सर्व** नाम-रूपों में उस **आत्मा** परमात्मा के **भाव** विद्यमान होने की अनुभूति. बस, इस अनुभूति से एक डग ज्ञानी आगे बढ़ा तो ज्ञानी मुक्त हो जायेगा!

भक्ति मार्ग में भी सर्वात्मभाव भक्ति का चरम विकास है. उससे एक डग यदि आगे बढ़ा जाये तो कुछ गड़बड़ हो जायेगी! कहीं भक्त मुक्त न हो जाये! इसकी सावधानी भक्ति में अत्यावश्यक होती है. क्योंकि भक्ति रस का आस्वाद भूतल पर जितना रोचक है, उतना मुक्ति के धरातल पर नहीं! अतः भक्ति मार्ग में भी सर्वात्मभाव भक्ति की सीमा है.

भक्ति में (१) माहात्म्यज्ञान और (२) सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेह ये तो पूर्वोत्तर अवस्थाएं हैं. द्वितीय अवस्था में स्नेह की पुनः दो तरह से अनुभूति होती है :

(क) जब जीवात्मा को अपने स्नेह की तीव्रता के कारण परमात्मा के विरह की अनुभूति होती है.

(ख) जब जीवात्मा को अपने स्नेह की सफलता के कारण परमात्मा के मधुर संयोग की अनुभूति होती है.

इन दोनों ही अवस्थाओं में भक्ति का सर्वात्मभाव के रूप में विकास सम्भव है.

सर्वप्रथमः विरहानुभूति में जब भक्ति सर्वात्मभाव में विकसित हो जाती है तो आसक्ति भ्रमन्यास से भक्त को सर्वत्र सभी वस्तुओं और व्यक्तियों में अपने भजनीय स्वरूप की प्रेममयी भ्रान्ति होने लग जाती है.

कुछ भ्रान्तियाँ अज्ञान-अन्धकार अथवा सादृश्य जैसे कारणों के वश होती है. जैसे सीप पर चाँदी की भ्रान्ति, सीप को अंधाकरवश न पहचान पाने के कारण होती है तथा सीप और चाँदी की एक जैसी चमक के कारण होती है, परन्तु एक प्रतीक्षारत प्रेमिका को प्रत्येक आहट में अपने प्रियतम के पदचाप की भ्रान्ति, केवल अतिशय आसक्ति के कारण ही होती है. ज्ञान में भ्रान्ति एक रुकावट है परन्तु प्रेम में प्रियतम की भ्रान्ति प्रेम का सच्चा परिपाक है!

लौकिक प्रेमिका या प्रियतम किसी देश-काल में उपस्थित या अनुपस्थित होते हैं. परमात्मा,

परन्तु, किसी भी देश या किसी भी काल में अनुपस्थित नहीं रहता. व्यापक और नित्य होने के कारण अत: किसी वस्तु के देश-काल में अनुपस्थित होने पर उस वस्तु की प्रतीति भी 'भ्रान्ति' कहलाती है. यह भ्रान्ति की परिभाषा, किन्तु, आसक्ति भ्रम की तरह ही होती परमात्मा की प्रेममयी प्रतीति पर लागू नहीं होती. परमात्मा के सर्वत्र सर्वदा विद्यमान होने के कारण.

इस सर्वात्मभाव की अनुभूति के विविध रूप उपनिषद् में बहुत रोचक शब्दों में वर्णित हुए हैं.

स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्ताद् ।
स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति ।।
अथातोहंकारादेशः
अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्ताद् ।
अहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोहमेवेदं सर्वमिति ।।
अथात आत्मादेशः
आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्ताद् ।
आत्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति ।।

पहले अचानक परोक्ष प्रियतम की चारों ओर प्रत्यक्ष प्रतीति होने लगती है, फिर लगता है कि प्रियतम यहाँ कहाँ? यह मुझे अपना भाव ही चारों ओर भीतर के बजाय बाहर दिखलाई देने लग गया है! अन्त में कुछ समझ नहीं पड़ता कि वह चारों ओर दिखलाई दे रहा है कि स्वयं मैं ही आपको अपनी भावना के अनुसार अपने आपको चारों ओर निहार रहा हूं! आत्मानुभूति में भक्त-भगवान, प्रिय-प्रेमी, जीवात्मा-परमात्मा के बीच एक विलक्षण तादात्म्य की प्रेमपूर्ण प्रतीति होने लगती है अतएव नन्ददास कहते हैं:

हौं जानी पिय के मिले विरह अधिक सुख होय।
मिलते मिलिये एकसों विरहे सब जग सोय।

ऐसी विलक्षण होती है सर्वात्मभाव की अनुभूति! यह अनुभूति, परन्तु, मानसी-सेवा सिद्ध हो तभी सेवा में अंगभूत बन पाती है. अन्यथा नहीं.

दूसरे : संयोगानुभूति के पक्ष में भी भक्ति का सर्वात्मभाव में विकास सम्भव है.

संयोगानुभूति के रूप में जब सर्वात्मभाव सिद्ध हो जाता है तो परमात्मा की अनुभूति सर्वत्र नहीं, किन्तु सर्व इंद्रियों से एक साथ होने लग जाती है. इस सर्वात्म-भाव का वर्णन श्रीमहाप्रभु ने भागवत के वेणुगीत प्रकरण की सुबोधिनीकारिका में किया है:

भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च ।
आश्लेषः सेवनं चापि स्पर्शश्चापि तथाविधः ।।

अधरामृतपानं च भोगो रोमोद्गमस्तथा ।
तत्कूजितानां श्रवणमाघ्राणं चापि सर्वतः ।।
तदन्तिकगतिर्नित्यमेवं तद्भावनं सदा ।
इदमेवेन्द्रियवतां फलं मोक्षोपि नान्यथा ।।

इन कारिकाओं में सभी इन्द्रियों से मधुराधिपति की मधुर अनुभूति का वर्णन है. 'सर्वभाव' के चौथे अर्थ में, जो सभी इन्द्रियों की भगवान में रुचि की बात कही गई थी, यहाँ वह केवल रुचि में सीमित नहीं रह जाती, अपितु रुचि से आगे बढ़कर प्रेम, आसक्ति, व्यसन में परिपुष्ट हो जाती है. अन्यथा वही स्वरूप है.

सर्वात्मभाव के इस प्रकार को 'अलौकिक सामर्थ्य' भी कहा जाता है. यहाँ पहुंचने पर सेवा फलरूपा बन जाती है. अलौकिकसामर्थ्य सिद्ध होने पर भक्त भगवान में लीन होने से बच जाता है. क्योंकि तब उसकी भक्ति का कभी मुक्ति में अवसान नहीं होगा! जब तक वह भूंतलपर रहता है अलौकिक सामर्थ्यवश वह सभी इन्द्रियों से परमात्मा की प्रेममयी अनुभूति करता रहता है. देहत्याग के बाद भी उसे दिव्य भगवद्धामों में कहीं सेवोपयोगी दिव्य देह ही मिलता है.

यह सर्वभाव भक्ति की सर्वोच्च स्तर की अनुभूति है वस्तुत: तो ऐसे सर्वभाव के सिद्ध होने पर व्रजाधिप के भजन के उपदेश की भी आवश्यकता नहीं रह जाती. क्योंकि तब तो सभी इन्द्रियों को भगवान के परमानंद की अनुभूति का व्यसन ही हो जाता है.

व्रजाधिप

सर्वदा सर्वभाव के साथ व्रजाधिप का भजन करना चाहिये, यहाँ 'व्रजाधिप' पद पर स्वरभार सर्वाधिक है.

शुद्धाद्वैतदर्शन के दृष्टिकोण से देखा जाये तो इस जगत के सभी जड़ या चेतन रूप, परब्रह्म परमात्मा भगवान श्रीकृष्ण के, निज आनंद की अभिव्यक्ति के हेतु, लीलार्थ परिगृहीत रूप हैं. अत: विभिन्न देवताओं के रूपों की बात तो दूर की है-- इस जगत में अधम से अधम योनि में प्रकट हुए रूप भी भगवान के ही रूप हैं.

यह सिद्धान्तदृष्टि, किन्तु ज्ञानसाधना के अंतिम सोपानगपर ही मान्यता से ऊपर उठकर अनुभूति में पर्यवसित हो पाती है.

अपरोक्ष ब्रह्मानुभूति के सिद्ध होने से पहले मक्खी, मच्छर, बिच्छू, खटमल, सूअर, कुत्ते में; अथवा मानवयोनि में भी जनमे चोर, लबाड या हत्यारे व्यक्ति में, ब्रह्मभावना करके उनका भजन एक विचित्र नाटकीय व्यवहार ही लगेगा! जब तक अपने चित्त में उच्च-नीच, सदसद् अथवा ग्राह्यत्याज्य का भेद भासित होता है, तब तक बड़ों का सन्मान करना ही पड़ता है. छोटों पर

कृपाभाव रखना ही पड़ता है. इसी तरह समान के सज्जन होने पर हमें भी सौजन्य बरतना ही पड़ता है. दुर्जन के साथ द्वेष या उपेक्षा का भाव रखना ही पड़ता है. व्यवहार में अद्वैत संसारी पुरुष नहीं बरत सकता-महाज्ञानी या जीवन्मुक्त की बात और है।

इसी तरह पुष्टिभक्ति के भवन के नीचे नींव में शुद्धाद्वैतवाद छिपा हुआ है पर, भवन में द्वैतवाद की कुछ अपनी दीवारें भी हैं ही. ऐच्छिक द्वैत की इन चार दीवारों के भीतर ही भक्ति का भाव अखंडित रह सकता है. अत: पुष्टि भक्ति के भवन के बाह्य मिलनप्रकोष्ठ (ड्राइंग रूम) में न केवल किसी भी देवरूप के प्रति अपितु प्रत्येक ज्येष्ठ व्यक्ति के प्रति हमें आदरभाव रखना चाहिये. जहां तक पुष्टिभक्ति के अन्त:प्रकोष्ठ (या भजन प्रकोष्ठ) का सवाल है, वहां व्रजाधिप के अलावा और किसी देवरूप को पधराया नहीं जा सकता है. आदर सभी का करना चाहिये परन्तु भजन तो केवल अपने इष्टदेव का ही. पुष्टिमार्ग में इष्टदेव भजनीय केवल व्रजाधिप ही होता है.

भगवत्कथा के जहां तक श्रवण-पठन-स्मरण का प्रश्न है वह प्रस्थान-चतुष्टयी (वेद, गीता, ब्रह्मसूत्र एवं भागवत) में वर्णित किसी भी भगवल्लीला का किया जा सकता है. भगवान की दशविध लीला भागवत में वर्णित हुई है, अनेक अवतारों के उपाख्यानों के साथ इनका पठन-मनन पुष्टिमार्गीय भक्त करते ही हैं. सेवा में, किन्तु, भक्ति योग के कुछ मधुर या कठोर प्रतिबन्ध हैं, चित्त को भगवदेकतान बनाने के लिए सेवा में भजनीय रूप के तौर पर केवल व्रजाधिप का स्वरूप ही पधराया जाता है.

कृष्णसेवा हमें व्रजभक्तों के नि:साधनभाव की भावना करते हुए करनी है. अत: नि:साधनभाव से किये जाने वाले भजन में भगवान का व्रजाधिप रूप ही भजनीयतम है. नि:साधन व्रज में भगवान ने जो लीलायें की थीं उनकी भावना जिस तरह शक्य हो पाये सेवा का क्रियापक्ष वैसा ही घड़ा गया है. ऐसी स्थिति में श्रीकृष्ण का जो स्वरूप अन्यत्र (मथुरा या द्वारका अथवा गौलोक आदि में वर्णित हुआ) है वैसे स्वरूप की स्वरूपभावना, लीला-भावना, भावभावना या सेवाभावना करना एक रसाभास जैसी स्थिति होगी. चित्त की भक्ति मय एकतानता में ऐसा रसाभास रुकावट पैदा करता है.

पुष्टिमार्ग के अंतर्गत जैसे भक्ति मार्ग है, वैसे ही प्रपत्तिमार्ग की भी एक सरणि है, प्रमुखतया जिसका गीता में प्रतिपादन हुआ है. इस प्रपत्ति में जैसे अनन्याश्रय की महत्ता है, ऐसे ही भक्ति में अनन्यासक्ति की महत्ता है.

श्रीकृष्ण चाहे व्रज में हों, मथुरा में हों, द्वारका में हों या अन्यत्र कहीं हों, वे क्षरपुरुष से अतीत और अक्षर-पुरुष से उत्तम ही होते हैं. श्रीकृष्ण सर्वत्र सर्वथा पुरुषोत्तम ही होते हैं, पर जैसा पुष्टिस्वरूप अपना श्रीकृष्ण ने व्रज में प्रकट किया, वह अन्यत्र दुर्लभ है. अत: पुष्टिमार्गीय

सेवाप्रणाली में व्रजभक्तों की भावना के अनुरूप व्रजाधिपति के रूप में कृष्ण भक्ति की अनिवार्यता है. अन्यथा भजनीय स्वरूप और भजन के स्वरूप में विसंवादिता उठ खड़ी होगी.

प्रपत्ति के लिए श्रीकृष्ण को सभी रूपों में आश्रय बनाया जा सकता है : श्रीकृष्ण के व्रजस्थित रूप को, मथुरास्थित रूप को, द्वारकास्थित रूप को, व्यापिवैकुण्ठ-स्थित रूप को, अन्तर्यामी नारायण रूप को भी. क्योंकि इन सभी रूपों में श्रीकृष्ण की पुरुषोत्तमता अतिरोहित रहती है. अत: अन्याश्रय का दोष नहीं पैदा होता.

पुष्टिमार्ग के अंतर्गत तन्त्रागमों में प्रतिपादित पूजाविधि भी मान्य की गई है. इसके अंतर्गत भगवान के चार अवतारों-- राम, वामन, नृसिंह और बलराम-- को पुष्टि-अवतारों के रूप में मान्य किया गया होने से भक्ति मार्गीय पूजनविधि में इनकी पूजा इनकी जयन्तियों पर मान्य हुई ही है.

शुद्धाद्वैत के दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार ज्ञानमार्गीय साधना में अक्षरब्रह्म की अव्यक्तोपासना की तरह अन्य भी व्यक्त-प्रतीकोपासनायें, जो उपनिषद् में समझाई गई हैं, की जा सकती हैं. श्रीमहाप्रभु के अनुसार, परन्तु पुष्टिमार्ग में इन्हें अनावश्यक तथा भक्ति और प्रपत्ति के भावों में व्यर्थ कालक्षेप माना गया है.

श्रीमहाप्रभु के अनुसार, इसी तरह, कर्ममार्ग के अंतर्गत जो कर्म श्रुतिविहित हैं-- नित्यकर्म के रूप में-- उनमें यदि अन्य देवों की स्तुति पूजा आदि को कर्तव्य कहा गया हो, तो वे अनुष्ठेय ही होते हैं. काम्य कर्मों में ही अन्यदेवार्चन अन्याश्रय माना गया है. नित्यकर्म या नैमित्तिककर्म, जिन्हें न करने पर प्रत्यवाय होता है, उनके अनुष्ठान के अन्तर्गत अन्य देव, ऋषि, पितर, ग्रह या भूत, मनुष्य, पशुपक्षी आदि किसी की भी स्तुति या पूजन में अन्याश्रय नहीं होता. अत: पुष्टिमार्गीय भक्ति या प्रपत्ति में इन्हें बाधक नहीं माना गया है.

शास्त्रविहित होने से अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास, पशु और सोमयाग जैसे श्रोतकर्म में अन्यार्चन अन्याश्रय नहीं. इसी तरह गर्भाधान आदि षोडश संस्कारों के अन्तर्गत अथवा सन्ध्योपासना के अन्तर्गत; अथवा श्राद्धादिककर्मों के अन्तर्गत अन्यदेवार्चन अन्याश्रय नहीं माना गया है. क्योंकि ये सारे कर्म शास्त्रदृष्टि से अनिवार्य माने गये हैं. इसी तरह वर्ण आश्रमधर्म के अन्तर्गत जिन्हें श्रौतकर्मों का अधिकार नहीं, उनके लिए जो तीर्थयात्रा, व्रत आदि अनिवार्यतया कर्तव्य दिखलाये गये हैं, उनमें भी अन्याश्रय दोष नहीं लगता. परन्तु काम्यकर्मों में दोषावह होता है.

आजकल बहुत बिना समझे ही लोग पुष्टिभक्ति की प्राणभूत भावना अनन्यासक्ति की; तथा प्रपत्ति की प्राणभूत भावना अनन्याश्रय की, उन्हें धार्मिक संकीर्णता मानकर, निन्दा कर देते हैं इन्हें भक्ति योग की बारीकी का जरा भी भान ही नहीं होता है!

एक मेस्मेरिजम यदि सिद्ध करता हो तो किसी क्षुद्र काले बिंदु को कितनी एकाग्रता से निहारना पड़ता है? योग में समाधि की अवस्था पर चित्त को पहुंचाना हो तो मानसीमूर्ति की ध्यानधारणा में कितनी अनन्य एकाग्रता बरतनी पड़ती है? नमक तो शरीर में कितना आवश्यक है पर रक्तचाप या हृदय के रोगी को नमक का कितना परहेज रखना पड़ता है? मिठाई तो कितनी स्वादिष्ट होती है? पर मधुमेह के रोगी को कितना परहेज रखना पड़ता है? इसी तरह परमात्मा में भक्ति योग हमें साधना हो तो अन्य देवासक्ति तथा अन्य देवाश्रय के बारे में परहेज रखना ही पड़ेगा।

श्रीमहाप्रभु ऐसा नहीं सोचते कि पुष्टिमार्ग विश्वधर्म है. क्योंकि पुष्टिमार्ग पर केवल पुष्टिजीव ही चल पायेंगे अन्य मर्यादामार्गीय जीव दैवी होने पर भी पुष्टिमार्ग पर चल नहीं पायेंगे. और अतएव उन्हें उनके मर्यादामार्गीय ज्ञान, वैराग्य, योग, तप, तत्तद् देवताओं की भक्ति तथा शरणागति आदि से सारे आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक भी लाभ मिलेंगे ही. मर्यादामार्गीय जीवों के अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि उन्हें मर्यादामार्गीय शास्त्रविहित उपायों से मिलती ही हैं.

श्रीमहाप्रभु का दृष्टिकोण इस विषय में वस्तुतः कितना विशाल है! श्रीमहाप्रभु के अनुसार आत्मोद्धार पर पुष्टिमार्ग का एकाधिकार नहीं है! परंतु पुष्टिमार्गीय जीव में आत्मोद्धार की लालच से, भी महाप्रभु, भक्तिभाव नहीं जगाना चाहते. उनका दृढ़ अभिप्राय है कि जीवात्मा के भीतर ही परमात्मा के द्वारा बोये हुए सहज ही पुष्टिबीज होते हैं तो होते हैं, अन्यथा किसी धर्मोपदेश से वे बोये नहीं जा सकते. जिनमें पुष्टिबीज होते हैं वे धर्मोपदेशसिंचन से पुष्टिभक्ति के रूप में अंकुरित हो पाते हैं.

पुष्टिभक्ति में केवल व्रजाधिप ही भजनीय है, यह श्रीमहाप्रभु की संकीर्ण धार्मिक दृष्टि नहीं हैं, किन्तु भक्ति योग के निगूढ़ स्वभाव को परख पाने की बड़ी पैनीदृष्टि है!

भजन का उपदेश है आदेश नहीं.

सर्वभाव के साथ सर्वदा भजनीय व्रजाधिप हैं. यह श्रीमहाप्रभु का वचन भजन का उपदेश है, आदेश नहीं. श्रीमहाप्रभु यहाँ आज्ञा नहीं दे रहे हैं किन्तु उनके अनुवर्तियों को व्रजाधिप के भजन की पुष्टिमार्ग में आवश्यकता समझा रहे हैं.

किसी आदेश के उल्लंघन करने पर हमारे अपराध का कुछ दण्ड मिल सकता है. इस दण्ड का भय यदि हमारे भीतर न हो तो आदेश की प्रभावोत्पादकता मंद पड़ जायेगी. अतः आदेश और उसके उल्लंघन पर दण्डविधान, ये विधि के दो अनिवार्य पहलू हैं. कोई भी कानून (एक्ट) अतः नियम (ला) और दण्डविधान (पेनल्टी) के बिना निरर्थक हो जाता है. परन्तु कोई व्यक्ति दण्ड भुगतने हेतु सहर्ष प्रस्तुत हो तो कानून प्रभावशाली नहीं रह जाता!

श्रीमहाप्रभु, अतएव, आदेश नहीं किन्तु उपदेश दे रहे हैं कि व्रजाधिप का भजन हमारे लिए आवश्यक है. शिशु के लिए उसकी माता का दूध जितना आवश्यक है. अच्छी फसल के लिए वर्षा का जल जितना आवश्यक है. एक बीमार के लिए औषधि जितनी आवश्यक होती है. अथवा सभी प्राणियों के लिए प्राणवायु जितनी आवश्यक होती है. पुष्टिजीव के लिए व्रजाधिप का भजन भी उतना ही आवश्यक है!

व्रजाधिप के भजन से वंचित पुष्टिजीव का देह, लौकिक आहारों के भोग से कदाचित हृष्टपुष्ट हो सकता है. परन्तु व्रजाधिप के भजन से वंचित पुष्टिजीव की आत्मा दुर्बल-मुरझाती-सी-दम तोड़ती-सी-छटपटाती-सी ही होती है! जैसे माता के दुग्ध के न मिलने पर एक शिशु दुर्बल हो जाता है. जैसे वर्षाजल के बिना खड़ी फसल मुरझा जाती है. जैसे कोई बीमार आवश्यक औषधि के बिना दम तोड़ने लग जाय. अथवा जैसे कोई प्राणी प्राणवायु के न मिल पाने के कारण छटपटाने लग जाये!

पुष्टिजीव से व्रजाधिप का भजन न निभना कोई दण्डनीय नैतिक अपराध नहीं है, किन्तु बेचारे उस जीव की एक दयनीय दुरवस्था है! क्योंकि व्रजाधिप का भजन पुष्टिजीव के अस्तित्व का निगूढ़ तात्पर्य है! किसी लौकिक या अलौकिक प्रयोजन की पूर्ति के लिए किये जानेवाले कर्मकाण्ड का अनुष्ठान नहीं है! अतः व्रजाधिप का भजन न निभना पुष्टिजीव के अस्तित्व की निरर्थकता ही है नैतिक अपराध नहीं!

नान्यःक्वापि कदाचन!

हम पुष्टिजीवों का धर्म तो यही व्रजाधिप का भजन है, किसी भी काल में व्रजाधिप के भजन के सिवा अन्य कोई कर्म हम पुष्टिजीवों के लिए कर्तव्य हो नहीं सकता. क्योंकि अन्य कोई भी कर्म, हमारे मिथ्या देहाभिमान के कारण, हमारे, लिये आवश्यक कर्तव्य बन जाते हैं. हमारी आत्मा के वास्तविक स्वरूपबोध के कारण नहीं.

हमारी जीवात्मा को उसके कर्मों के कारण अनेक बार अनेकविध देह धारण करने पड़ते हैं. उनमें से वर्तमान देह हमें हमारे वर्तमान माता-पिता के कारण मिला है. वर्तमान देह हमें वर्तमान कुल, समाज या राष्ट्र में मिला है. अथवा मानव योनि में मिला है. अतः कुल परिवार, समाज, राष्ट्र या मानव के प्रति हमारे अनेक प्रकार के उत्तरदायित्व, हमारे देहाभिमान पर अवलम्बित हैं. यदि वर्तमान कुल से भिन्न किसी कुल में हमें जन्म मिला होता, तो वर्तमान कुल के प्रति हमारा उत्तरदायित्व कुछ भी न होता. यदि वर्तमान समाज से भिन्न किसी समाज में हमारा जन्म हुआ होता तो तब जिस समाज के आज हम सदस्य हैं-- वह हम न रह जाते. तब इस समाज के प्रति हमारा उत्तरदायित्व कुछ भी न रह जाता. किसी एक राष्ट्र में जन्म होने के कारण हमें उस राष्ट्र में उस राष्ट्र की नागरिकता प्राप्त हो जाती है परिणामस्वरूप उस राष्ट्र के बारे में हम पर कुछ

उत्तरदायित्व भी आ पड़ते हैं, परन्तु यदि हमारा जन्म इस राष्ट्र में न होकर अन्य किसी राष्ट्र में हुआ होता तो इस राष्ट्र के प्रति हमारा कर्तव्य कुछ भी न होता, जैसा कि उस राष्ट्र के नागरिक का नहीं होता है उदाहरणतया चीन के किसी व्यक्ति का भारत के प्रति नागरिक की हैसियत वाला कोई भी उत्तरदायित्व नहीं होता है.

इसी तरह मानव समाज के प्रति हमारा कुछ उत्तरदायित्व है, क्योंकि हम मानवदेहधारी हैं, कहीं खटमल, बिच्छू या गीध की योनि में हम जनमें होते तो इस मानव देह में रहे रक्त को पीने का-- उसे डंक मारने का और निर्जीव पड़ा मिला तो उसमें से मांस नोच खाने के अलावा और क्या उत्तरदायित्व (!) हमारा हो सकता था?

स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, ब्राह्मण आदि वर्ण और इसी तरह ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों के सभी कर्तव्य देहाभिमान मूलक ही हैं, आत्मा के साथ इन अभिमाजों की वास्तविकता एक काकतालीय संयोग से अधिक कुछ नहीं.

हम ब्राह्मण हैं या शूद्र हैं-- स्त्री हैं या पुरुष हैं-- युवा हैं या वृद्ध हैं-- गुजराती हैं या मराठी हैं-- भारतीय हैं या यूरोपीय हैं-- मनुष्य हैं या जानवर हैं, ऐसे किसी भी देहाभिमान के कारण व्रजाधिप के भजन को धर्म नहीं माना गया है. व्रजाधिप का भजन हमारा धर्म है, क्योंकि वह हमारा सहज स्वामी है और हम उसके सहज सेवक हैं. क्योंकि वह अंशी हैं और हम उसके अंश हैं. क्योंकि हर अंश का अपने अंशी की ओर एक सहज आकर्षण रहता ही है. एक निरुपधि प्रेम की सरिता हमारे भीतर बह रही है और जिस सरिता का सागर वही व्रजाधिप है?

इस अर्थ में व्रजाधिप हमारे भजनीय हैं, किन्हीं लौकिक क्षुद्र कामनाओं की पूर्ति के लिए अथवा मोक्षदाता के रूप में नहीं!

एकान्तभक्ति और अनन्याश्रय

विवाह आदि मांगलिक कार्यों के प्रारम्भ में विघ्नहर देवता गणपति आदि की स्तुति-पूजा पुष्टिमार्ग में वर्जित नहीं है. परन्तु गणपतिपूजन हम इसलिए नहीं करते कि हमारे विघ्नों की हरने की सामर्थ्य हमारे इष्टदेव में नहीं हैं. वस्तुत: विघ्नों को दूर करवाने के लिए गणपति पूजन अन्याश्रय ही हैं. फिर भी गणपतिपूजन हमें अवश्य करना चाहिये, क्योंकि वह इस प्रसंग में ऐसे कर्मों के अंगत्वेन शास्त्र में अनिवार्यतया विहित हैं. ऐसी स्पष्ट धारणा या भावना के साथ गणपतिपूजन करने पर अन्याश्रय दोष नहीं लगता.

अपने इष्टदेव का पूजन विघ्नवारण की भावना से करना उचित है कि नहीं?

इस विषय में श्रीमहाप्रभु का सिद्धान्त बिल्कुल स्पष्ट है कि सर्वथा नहीं, क्योंकि ऐसी क्षुद्र मनोकामनाओं के साथ अपने भजनीय को जोड़ना अपने पुष्टिमार्गीय विवेक और धैर्य से विचलित

होने के जैसी बात है. विघ्नवारण की कामना से गणपति पूजन करना जैसे हमें भगवदाश्रय से भ्रष्ट करता है, ठीक वैसे ही ऐसी कामना से अपने इष्टदेव का पूजन करना हमें विवेक और धैर्य से भ्रष्ट करता है.

श्री महाप्रभु की दृढ़तर धारणा है कि अपने आराध्य का भजन (अथवा शास्त्र में अनिवार्यतया विहित हो तो अन्य देवों के अर्चन आदि भी) हमें निष्काम भाव से ही करने चाहिये. अन्यथा हमारी भक्ति पुष्टिभक्ति न रह जायेगी--मर्यादाभक्ति बन जायेगी. गणपति आदि किसी भी अन्य देव का पूजन केवल शास्त्रविहित होने के कारण ही हमें करना चाहिये. यह पुष्टिमार्गीय विवेक है. जैसे रोजी-रोटी कमाने के लिए हम धंधा या नौकरी करते हैं. उसमें जैसे अन्याश्रय नहीं होता. बीमार पड़ जाने पर जैसे डॉक्टर से दवाई मांगने पर अन्याश्रय नहीं होता. विद्योपार्जन करते समय जैसे विद्यालय के अध्यापक को आदर देने में अन्याश्रय नहीं होता. ये सारे लोक-व्यवहार हैं-- ऐसे ही शास्त्रीय व्यवहारों को निभाने में भी अन्याश्रय नहीं होता. जब तक हमारे भीतर की भावना स्पष्ट हो कि ऐसे व्यवहार हम निष्कामभाव से तथा शास्त्राज्ञापरिपालन के लिए ही केवल कर रहे हैं.

लौकिक या शास्त्रीय, सभी कर्तव्य किसी न किसी प्रकार के अभिमानवश ही कर्तव्य बनते हैं. देहाभिमान, रहने पर देहसम्बन्धी कर्तव्य अनिवार्य बन जाते हैं. इसी तरह शुद्ध आत्मस्वरूप के अभिमानवश भगवत्सेवा भी हमारे लिए अनिवार्य आत्मधर्म है. अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि सर्वदा सर्वभाव के साथ व्रजाधिप का भजन ही हमारे लिए स्वधर्म है. इस व्रजाधिप के भजन के अलावा अन्य कोई भी कर्म किसी भी देश या काल में हमारा आत्मधर्म नहीं हो सकता.

मननीय भावना

इसी भाव का निरूपण वृत्रासुर-चतु:श्लोकी में भी बड़े मननीय शब्दों में हुआ है:

हे हरि! तुम्हारे चरणों में अनन्यतया आश्रित तुम्हारे दासों का मुझे दास बनाओ. मेरे प्राणपति! मेरा मन निरन्तर तुम्हारा स्मरण करता रहे; मेरी वाणी निरन्तर तुम्हारे गुणों को गाती रहे; और मेरी काया निरन्तर तुम्हारे कार्य करती रहे-- ऐसी कृपा मेरे बारे में विचारो!

पुष्टिमार्गीय अर्थ (धन) का स्वरूप

एवं सदा स्वकर्तव्यं
स्वयमेव करिष्यति
प्रभुः सर्वसमर्थो हि
ततो निश्चिन्ततां व्रजेत् ।।२।।

अन्वयार्थ :

एवं इस तरह (हमारे स्वधर्म को निभाये चले जाने पर) **प्रभुः** सर्वभवन-सामर्थ्यवान् स्वामी **स्वकर्तव्यं** उन्हें जो कुछ करना है **सदा** सर्वदा **स्वयमेव** स्वयं ही **करिष्यति** करेंगे **हि** क्योंकि (वे) **सर्वसमर्थः** कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुसमर्थ हैं **ततो** इस कारण से **निश्चिन्ततां व्रजेत्** सारी चिन्तायें हमें छोड़ देनी चाहिये.

अर्थ का अनर्थ / अनर्थ के निवारण का उपाय / 'अर्थ' का सच्चा अर्थ / श्रेष्ठ अर्थोपार्जन / अर्जित धन की सुरक्षा / स्नेह में अज्ञान सह्य है पर छलना नहीं / श्रीकृष्ण-भजन में पहली बाधा : पूतना / शास्त्रमवगत्य मनोवाग्देहैः कृष्णः सेव्यः / भगवान अपना कर्तव्य निबाहेंगे परन्तु... / प्रमेयबल बाद में पहले प्रमाण बल / तुम्हारा घर ही नंदालय बनेगा यदि नंदननंदन को समझ पाओ / सिद्धान्त उपदेशः आचार्यों का कर्तव्य / शकटासुर की बाधा / तृणावर्तकी की बाधा / कालियदमन / दोषहारी हरि के गुणों के गुणज्ञ भक्त बनो जगत के दोषों के दोषज्ञ विद्वान नहीं / ज्ञानमार्ग में अधिकारी दोषज्ञ विद्वान होता है- भक्त तो गुणज्ञ ही / ज्ञानसाधनों में कठोरता है- भक्ति साधनों में मृदुता / भक्ति में बलः निश्छल भाव और भगवान का प्रमेयबल / निश्चितता का रहस्य / मननीय भावना.

पुष्टिमार्गीय अर्थ (धन) का स्वरूप

पुष्टिमार्गीय अर्थ स्वयं भगवान् हैं : 'अर्थो हरिरेव हि'

'अर्थ' शब्द का लौकिक अर्थ धन होता है. धर्म के बाद धन को पुरुषार्थ के रूप में प्रतिपादित करने का एक विशेष अभिप्राय है.

अर्थ का अनर्थ

आजकल बहुधा धर्म के विक्रय द्वारा लोग धन के ऊपार्जन का चक्कर चलाते रहते हैं. भगवान वेदव्यास का कहना है कि वे बांहें ऊंची उठाकर शपथ के साथ यह कहते हैं कि स्वधर्म का हमारी

आर्थिक आकांक्षा और सुखोपभोग की आकांक्षाओं में रुकावट डालना नहीं है किन्तु उन्हें कुछ शाश्वत मूल्यों के आधार पर संवारना है:

ऊर्ध्वबाहू विरोम्येष न च कश्चिद् श्रुणोति मे।
धर्माद् अर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते।।

हम बड़े चतुर हैं. वेदव्यास का कहना था कि स्वधर्म के निर्वाह से अर्थ-काम की सिद्धि हो जायेगी. हमने स्वधर्म के विक्रय द्वारा अपने अर्थोपार्जन के तथा क्षुद्र कामनाओं की पूर्ति के उपाय घड़ लिये।

हम चंदा एकत्रित करने के लिए भागवतसप्ताहों का आयोजन करते हैं. हम भेंट जमा करने के लिए नितनई सजावटों के साथ हमारे भजनीय व्रजाधिप की झांकी कराने के मनोरथ दौड़ाते हैं. हम भगवान् को भोग धरते हैं तो अपने धन से नहीं, परन्तु ब्याज के धन से या फिर जनता से भोगसामग्री के रुपये बटोर कर उन रुपयों से भोग धरते हैं. इस तरह मुफ्त में धरे हुए भोग का भी पुनः विक्रय करते हैं! आय-व्यय दोनों में आर्थिक लाभ का भूत हमारे सिर पर सवार रहता है. यह कैसा धंधा है? लोग फाइव स्टार होटलों में लंच और डिनर लेने के फैशन में फंसे हुए हों तो हम फाइव-स्टार उपहारगृह बनाकर टेबल-कुर्सी पर भगवत्प्रसाद बेचने से भी चूकते नहीं क्योंकि-- 'धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते!'

अनर्थ के निवारण का उपाय

मगर श्रीमहाप्रभु का स्पष्ट सिद्धान्त है कि 'धनं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्यक्तुं न शक्यते कृष्णार्थे तत्प्रयुंजीत कृष्णोनर्थस्य वारकः'-- धन तो सभी तरह से त्याज्य ही होता है, परन्तु धन का त्याग करना सरल बात नहीं है. अतः त्याग के थोथे पाखंड के बजाय उस धन का भगवत्कार्य में विनियोग उत्तम बात है.

हम पाखंड करते हैं कि धर्म के विक्रय के द्वारा भी हमारा अंतिम उद्देश्य धर्म के प्रचार-प्रसार का ही होता है. परन्तु धर्म के प्रचार हेतु धर्म-विक्रय रूप अधर्म यदि अनिवार्य हो, तब तो धर्म के बजाय अधर्म की ही जीत हो गयी! फिर तो धर्म के बजाय अधर्म ही खुलकर मुक्त मन से क्यों न किया जाना चाहिये? धर्म के प्रचार-प्रसार में कोई बुराई नहीं है, परन्तु उस प्रचार-प्रसार के प्रकार में धर्मोचित गरिमा तो होनी चाहिये. [धर्म (अर्थ काम) मोक्ष के रूप में प्राचीन ऋषियों महर्षियों ने धर्म और मोक्ष के कोष्ठक (ब्रेकेट) में अर्थ और काम को सिद्ध करने की छूट दी थी. हमने अर्थ और काम के कोष्ठक में धर्म और मोक्ष [अर्थ (धर्म मोक्ष) काम] के अनुष्ठान का पाषण्ड घड़ लिया है. अतएव वर्तमान युग में धर्म के प्रचार में व्यापारिक वंचना और सस्तापन आ गया है.

'अर्थ' का सच्चा अर्थ

भगवद्भजन से परंतु यदि किसी तरह का अर्थोपार्जन करना है, अर्थात् कुछ धन कमाना है, तो वह धन भगवान हरि ही हैं-- 'अर्थो हरिरेव हि.'

जब हम राजमार्गों पर यातायात की व्यस्त घड़ियों में धर्म विक्रय को आकर्षक बनाने के हेतु भगवद्भावना का अभिनय करके नाचते हैं, तो जैसे धन की कमाई होती है, वह अलौकिक धन श्रीहरि नहीं होते किन्तु क्षुद्र लौकिक धन ही होता है. वह अर्थोपार्जन नहीं किन्तु अनर्थोपार्जन ही होता है.

श्रेष्ठ अर्थोपार्जन--

अपने यहां एक सुन्दर पद गाया जाता है!
धर्म ही ते पायो यह धन धर्म ही ते पायो।
नीके राख जसोदा मैया नारायण घर आयो।।
जा धन को जप तप मुनि खोजत वेदहू पार न पायो।
सो धन धर्‍यो क्षीर सागर में ब्रह्मा जाय जगायो।।
जा धन ते गोकुल सुख लहियत सगरे काज संवारे।
सों धन बार बार उर अंतर परमानंद विचारे।।

यह श्रीहरिरूप धन अपने धर्म अर्थात् भगवद्भजन के निश्छल अनुष्ठान से ही कमाया जा सकता है. जब तप, व्रत, यम, नियम, संयम, वैराग्य आदि सिद्ध करनेवाले मुनिजयों को भी यह धन सुलभ नहीं है. देवताओं के लिए भी यह धन दुर्लभ है! परन्तु भगवद्-भजन परायण भक्त के घर में यह धन सहज ही प्रकट हो जाता है. एक माता अपने बालक की जैसी सम्हाल रखती है उतनी सावधानी भक्त को भी अपने इस अलौकिक धन की रक्षा के लिए रखनी चाहिये.

अर्जित धन की सुरक्षा

भागवत में आता है कि जब-जब श्रीकृष्ण के प्रति थोड़ी सी भी असावधानी हुई कि किसी न किसी तरह के असुर गोकुल में घुस आते थे-- कृष्ण को चुरा ले जाने के लिए कृष्ण को खतम कर देने के लिए. अपने विषलिप्त स्तनों से दूध पिलाकर कृष्ण को खतम कर देने के लिए, गोकुल में सबसे पहले पूतना आयी थी. देखने में बहुत सुन्दर सुहावनी लगती थी, पर उसके निर्मम स्तनों पर विष लेपा हुआ था! यशोदा की थोड़ी सी असावधानी का लाभ लेकर उसने वह विषलिप्त स्तन श्रीकृष्ण के मुख में ठूँस ही दिया.

स्नेह में अज्ञान सह्य है पर छलना नहीं

श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि 'प्रभुः स्वकर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति' अपना कर्तव्य प्रभु स्वयं ही निभाते

हैं अतएव स्तनपान करते समय भगवान् ने उस पूतना के प्राण भी हर लिये. माँ यशोदा अपने नवजात शिशु की रखवाली में कदाचित् असावधान भले हो, परन्तु उसके स्नेह में पूर्ण निच्छलता थी!

श्रीकृष्ण भजन में पहली बाधा : पूतना

श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि पूतना व्रजभक्तों की अविद्या थी.

आज भी पुष्टिमार्गीय जनसाधारण को जो अपने ग्रंथों का अध्ययन-मनन-स्वाध्याय नहीं करते, उनके अज्ञान का लाभ उठाने अनेक पूतनायें यत्र-तत्र सर्वत्र डोल रही हैं! पुष्टिमार्ग के भोले ग्रामीण जनों को, श्रीमहाप्रभु विरचित स्तोत्रों के स्तनों पर सर्वथा विपरीत व्याख्याओं का विष लेप कर, ये आधुनिक पूतनायें स्वाध्याय का स्तनपान कराने सर्वत्र चक्कर लगा रही हैं.

पुष्टिमार्गीय दीक्षाविधि में निःसाधनता के भाव के उद्बोधन के लिए अष्टाक्षर मंत्रद्वारा शरणागति की भावना प्रतिपादित की गई है, तो ये पूतनायें उलटा समझती हैं कि 'श्रीकृष्णः शरणं मम' जपने से श्रीकृष्ण प्रसन्न नहीं होते.'

वास्तविकता जबकि यह है कि श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने के लिए पुष्टिमार्ग में अष्टाक्षर मंत्र के जप की महत्ता दिखलाई ही नहीं गई है अपितु जीवात्मा में निःसाधन-भाव के उद्बोधनार्थ-- विवेक-धैर्य आश्रय के रक्षणार्थ-- निश्ंचिततापूर्वक भजन के निर्वाहार्थ अष्टाक्षर के जप की आवश्यकता दिखलाई गई है.

अनेक अनर्गल उपहासों के कारण पुष्टिमार्गीयों की अपने मंत्रों में निष्ठा जब खण्डित हो जाती है, तब ये पूतनायें अपने मनपसंद के एक-दो स्तोत्र जपने की प्रेरणा देने लगती हैं! मानो इन स्तोत्रों के जप से मुक्ति मिल जाने वाली हो!!

एक बार एक ऐसे ही 'वैष्णवपुत्र' वल्लभदासभाई से हमारी मुलाकात हुई. इन्हें 'वैष्णवपुत्र' कहने का प्रयोजन यह है कि इनके माता-पिता वैष्णव न होते तो नाम 'वल्लभदास' क्यों रखते परन्तु ये स्वयं यदि वैष्णव रहे होते तो इन्हें 'वैष्णवपुत्र' कहने के बजाय 'वैष्णव' ही कहना उचित होता! इनके हृदय में से, श्रीमहाप्रभु के सिद्धांतों की विपरीत व्याख्याओं के कारण सारी सैद्धान्तिक निष्ठा खण्डित हो चुकी थी! इन वल्लभदासभाई को इनके गुरुजी ने अन्य भी पुष्टिमार्गीय वैष्णवों को अपने मार्ग से च्युत करने के लिए गांव-गांव में जाकर सम्पर्क स्थापित करने की प्रेरणा दी थी.

ये स्वयं बता रहे थे कि एक बार गुजरात के किसी गांव में जब ये प्रचारार्थ गये हुए थे तो उस गांव के लोगों ने इनकी बात सुनने से इन्कार कर दिया था तब इन्होंने नई तरकीब खोज निकाली. इन्होंने कहना शुरू किया कि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य की प्रशंसा में गाये गये 'दृढ़ इन चरणन केरो

भरोसो' पद पर ये कुछ प्रवचन करना चाहते हैं, बिचारी भोली ग्रामीण जनता बहकावे में आ गई और वहां इनके गुरुजी के प्रवचनों के स्वाध्याय करने का केन्द्र, पुष्टिमार्गीय मंदिर में ही स्थापित हो गया!

मैं नहीं स्वीकार सकता कि सारा दोष केवल इन्हीं का ही था. क्योंकि हमने मार्ग के सिद्धान्तों का स्वाध्याय भलीभांति अपने वैष्णवबंधुओं को करवाया होता, तो उन्हें सूरदास जी के 'दृढ़ इन चरणन केरो भरोसो' पद में रही दूध के जैसी मधुर भावना के साथ उसकी विपरीत व्याख्या के विष के कडुवे स्वाद को पहचानने में कोई कठिनाई न होती!

श्रीमहाप्रभु के सिद्धान्तों के विपरीत स्वयं हमने, पहले अपने मार्ग के अनुयायियों की निष्ठा को स्वमार्गीय ग्रंथों के स्वाध्याय में दृढ़ करवाने के बजाय, यदा-कदा गांवों में भेंट लेने के लिए परदेश करते समय, यहां वहां की व्यर्थ बातों के द्वारा 'वचनामृत' में श्रोता की पुष्टिसिद्धान्त-निष्ठा को मृतप्राय छोड़ दिया है! तभी तो पूतनायें सफल हो पाती हैं. पहले हमने निजगेह में भगवत्सेवा के सिद्धांत पर भार देने के बजाय सार्वजनिक मंदिरों में भड़कीली सजावटों वाले मनोरथों के क्रूर चक्कों के नीचे पुष्टिमार्ग की जनता की स्वधर्मनिष्ठा को कुचल डाला है. तभी तो युग अभी थोड़ी करवट बदल भी न पाया कि हमारी बातें आज सारहीन, अप्रासंगिक तथा समय, धन और सामर्थ्य की व्यर्थ बरबादी लगने लगी! परिणामस्वरूप अपने सम्प्रदाय के उपदेशक वर्ग भी, जब जनता की बदली हुई मन:स्थिति का सामना न कर पाने की स्थिति में अपने-आपको पाने लगे तो सिद्धान्त-अपसिद्धान्त की परवाह किये बिना, जो जनरुचि में सर्वाधिक यश:प्रद बन जाये ऐसी चंदा एकत्रित करने के भागवत सप्ताह के आयोजनों पर भार देने लग गये हैं।

गलत चुनाव

हम भगवत्सेवा को निजगृह में ही करने के सिद्धांन्त को कहने से कतराते हैं. क्योंकि यह हकीकत है कि आज पुष्टिमार्गीय आचार्य गृह के प्राय: शतप्रतिशत भगवन्मन्दिर सार्वजनिक मंदिरों में दुष्परिणत हो गये हैं.

हमने लक्ष्मी और नारायण के बीच लक्ष्मी को चुनना पसन्द किया (दामोदरदास संभलवाला की वार्ता में उद्धृत) श्री महाप्रभु के उद्गार कि 'लक्ष्मी को यमुना में पधराओ और नारायण को घर में!' इसके ठीक विपरीत हमने नारायण को सार्वजनिक न्यास के प्रवाह में विसर्जित करके, अपने घर में लक्ष्मी की आयकर से और संपत्तिकर से सुरक्षा कर ली है! क्योंकि हम चिन्तित और निराश हो गये हैं, हमें लगता है कि व्रजाधिप का भजन अब हमारा स्वधर्म नहीं रहा किन्तु सम्प्रदाय के प्रचार का और हमारी आजीविका का अब अवशिष्ट एकमात्र अन्तिम साधन है! जबकि श्रीमहाप्रभु का कहना है कि 'एवं सदा स्वकर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति प्रभु: सर्वसमर्थो हि

ततो निश्चिन्ततां व्रजेत'

शास्त्रमवगत्य मनोवाग्देहैः कृष्णः सेव्यः

श्रीमहाप्रभु के -- 'शास्त्रमवगत्य मनोवाग्देहै: कृष्ण: सेव्य:' के उपदेश में स्वयं हम ही तत्पर नहीं हों. अपने सिद्धान्तग्रन्थों का भली-भांति अवगाहन करने स्वयं हम ही तत्पर न हों, हमारे सारे आयोजनों की दौड़ जनता से चन्दा एकत्रित करके कुछ भड़कीले छप्पनभोग जैसे मनोरथ अथवा तथाकथित मानवसेवा के हेतु कुछ भागवत-सप्ताहों तक सीमित हो, तो इन्हीं उत्सवों के आयोजनों में जब हम गाफिल हैं, तब हमारे बालकृष्ण के मुख में आधुनिक पूतना अपना विषलिप्त स्तन ठूँस दे तो कौन से आश्चर्य की बात है? भागवत में आता है कि 'कंस ने प्रहिता घोरा पूतना बालघातिनी शिशूंश्चचार निघ्नन्ती पुरग्रामव्रजादिषु' कंस के द्वारा छोड़ी हुई बालघातिनी घोर पूतना अनेक अबोध शिशुओं का वध करती हुई नगर ग्राम व्रज आदि सभी जगहों पर चक्कर काटने लग गई!

भगवान् अपना कर्तव्य निबाहेंगे परन्तु...

श्रीमहाप्रभु का हमें स्पष्ट आश्वासन है कि यदि अपने शास्त्रों का भलीभांति अवगाहन करके, व्रजभक्तों के भावों की भावना करते हुए, निजगृह में अपने तन धन-परिवारजनों को भगवत्सेवा में हम लगायेंगे तो पूतना के जैसी सभी बाधा भगवान् स्वयमेव हर लेंगे : 'एवं सदा स्वकर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति प्रभु:...'

प्रमेयबल बाद में पहले प्रमाणबल

श्रीकृष्ण को जैसे परब्रह्म, परमात्मा, भगवान्, पूर्ण पुरुषोत्तम माना जाता है, वैसे ही बलराम को संकर्षणव्यूह के अलावा शेषनाग रूप तथा वेदरूप भी माना गया है. वेद को प्रमाणरूप माना गया है कि जिसका प्रमेय स्वयं ब्रह्म हैं. नंदालय में दोनों प्रकट हुए हैं प्रमाणरूप वेद स्वयं बलराम और प्रमेयरूप परब्रह्म स्वयं कृष्ण. इन दोनों के प्रकट होने की प्रक्रिया भागवत में भिन्न-भिन्न दिखलाई गई है. प्रमाणरूप बलराम पहले प्रकट होते हैं और प्रमेयरूप कृष्ण बाद में अनुज के रूप में. अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि शास्त्र के भलीभांति अवगाहन के द्वारा प्रमाणबल को पहले प्रकट होने देना चाहिये-- बाद में अनुज के रूप में प्रमेयस्वरूप व्रजाधिप कृष्ण भलीभांति सेव्य बन पायेगा.

तुम्हारा घर ही नन्दालय बनेगा यदि नन्दनन्दन को समझ पाओ

एक और तथ्य इनके प्राकट्य में मननीय है और वह यह कि नन्दालय में बलराम प्रकट होते हैं, वसुदेव के पुत्र के रूप में ही. उनका लालनपालन परन्तु होता है नन्द के ज्येष्ठ पुत्र के रूप में. जबकि कृष्ण का प्रादुर्भाव नन्दालय में नन्दनन्दन के रूप में हुआ है और वसुदेव के यहाँ वासुदेव

के रूप में भी. नन्दनन्दन को नन्दालय में पहुंचानेवाले वसुदेव को लगता है कि यह मेरा आत्मज है. वास्तविकता यह है कि वह अज दोनों का आत्मज बन गया है! क्योंकि वह सर्वसमर्थ है!! अत: उभययत्र आत्मजभाव स्वीकार सकता है अज होने पर भी!!!

वसुदेव स्थानापन्न गुरु के यहाँ : जब भगवन्मूर्ति की पुरुषोत्तम के रूप में भावात्मिका प्रतिष्ठा की जाती है; और बाद में किसी वैष्णव के नन्दालय रूप घर में जब उसे पधराया जाता है, तो भगवान का वह स्वरूप दोनों के लिए, आत्मजतुल्य होता है. अत: अपने परिवार में बालकृष्ण के प्रकट होने के बाद प्रत्येक वैष्णव के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह अन्यत्र सार्वजनिक मन्दिरों में भटकने के बजाय निजगृह में विराजमान व्रजाधिप के निजी स्वरूप के भजन में एकदम तल्लीन हो जाये.

सिद्धान्त उपदेश : आचार्यों का कर्तव्य

वर्तमान युग में स्वयं गोस्वामी-आचार्यों की निजी सेव्यस्वरूपों को, भगवत्सेवा को तथा सेवास्थलों को सार्वजनिक धर्मादा न्यास या मन्दिर के रूप में विकृत कर दिया गया है. यह पुष्टिमार्ग के उच्छेद की प्रक्रिया के क्रूर एवं नग्न ताण्डव नृत्य में प्रदर्शित होनेवाली अंतिम लयकारी है.

नंदरायजी कृष्णजन्म के बाद वसुदेवजी से मिलने मथुरा गये थे. भागवत के इस प्रसंग में वर्णन आता है कि तब वसुदेवजी ने नंदरायजी को यही सुझाव दिया कि उन्हें शीघ्र ही अपने गोकुल लौट जाना चाहिये. क्योंकि अनेकविध उत्पातों की वहाँ सम्भावना है.

इसी तरह वसुदेवस्थानापन्न प्रत्येक आचार्य गोस्वामिमहानुभावों का यह कर्तव्य है कि उनके घर में उनके सेव्यस्वरूपों के दर्शनार्थ भटकते वैष्णवों को यह सुझाव दें:

'लौट जाओ अपने घर की ओर जहाँ श्रीकृष्ण का स्वरूप हमने पधरा दिया है! क्योंकि पुष्टिमार्ग में भजनीय नंदात्मज (व्रजाधिप) है, वसुदेवात्मज नहीं! वैष्णव-बंधुओं! सिद्धान्तबोधक प्रमाणरूप बलराम का लालनपालन तो तुम बराबर कर रहे हो कि नहीं? क्योंकि बीजभाव की दृढ़ता निजगृह में भगवत्सेवा परायण रहने से होती है (गृहेस्थित्वा... भजेत्कृष्णं) तो फिर अब हमारे यहाँ व्यर्थ चक्कर मत मारो! जाओ अपने गोकुल की ओर, जहाँ पूतना से अपने बालकृष्ण को बचा सको! अन्यथा ये पूतनायें उलटी बात तुम्हें समझा देंगी कि 'जगत् के सर्जक की बालभावना से सेवा करना मनोविकृति है'.

भागवत में आये वसुदेव जी के वचन वसुदेवस्थानापन्न आचार्यों को भी दोहराने चाहिये : 'भ्रातर्मम सुत: कच्चिन्मात्रा सह भवद्व्रजे तातं भवन्तं मन्वानो भवद्भ्यामुपलालित:? ...नेह स्थेयं बहुतिथं सन्त्युत्पाताश्च गोकुले!'

गोकुल में एक बार पहुँच जाओ तो पूतना को मरी हुई पाओगे अपने बालक कृष्ण को नहीं!

अत : आज की इन पूतनाओं से बचने के लिए भी श्रीमहाप्रभु का यह उपदेश सर्वदा बुद्धि के सामने रखना चाहिये कि यदि तुम निश्छल भावों के साथ यशोदा की तरह निजगृह में अपने लाडिले व्रजाधिप की सेवा में तत्पर रहे तो इन पूतनाओं की बाधा भगवान स्वयमेव दूर कर देंगे 'एवं सदा स्वकर्तव्यं प्रभु: स्वयमेव करिष्यति.'

ऐसे ही और भी अनेक असुर जो ब्रज में आये थे उन्हें स्वयं भगवान ने ही खतम किया था. भगवान से हमें बहिर्मुख करनेवाली अविद्या को श्रीमहाप्रभु ने जैसे 'पूतना' कहा है वैसे ही अन्य असुरों के स्वरूप भी समझाये हैं.

शकटासुर की बाधा

भगवत्सेवा में अनुपयोगी हमारे घर-संसार की ममतास्पद अनेक वस्तुएं शकटासुर जैसी होती हैं. चरण को भक्तिरूप माना गया है. अपने इन भक्तिरूप चरणों से भगवान ने शकटासुर का नाश किया था. हमें सावधानी रखनी चाहिये कि भगवत्सेवा में अनुपयोगी घर में संचित ऐसी अनेक ममतास्पद वस्तुओं के ढेर में कहीं हमारे भजनीय व्रजाधिप का स्वरूप दब न जाय! श्रीमहाप्रभु इसे निरोधलक्षण में यों समझाते हैं. 'यस्य वा भगवत्कार्य यदा स्पष्टं न दृश्यते तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य:'

तृणावर्त की बाधा

हमारे भीतर भरे हुए राजस भावों के तृणावर्त कभी हमारे भजनीय स्वरूप को उड़ा ले जा सकते हैं. जब हम निजगृह में सर्वस्व-निवेदन के रूप में भगवत्सेवा नहीं कर पाते, तब अपने सेव्यस्वरूप परिवार से पृथक् करके उनकी सेवा के हेतु हम संपत्ति संचय करने लगते हैं. संचित संपत्ति को कराधान से बचाने के लिए हमारे भीतर राजस भावों के तृणावर्त उठने लगते हैं. तृणावर्त के कारण उठी संपत्ति की धूल हमारी आंखों में भर जाती है तब हमें अपने भजनीय प्रभु दिखलाई देने बन्द हो जाते हैं. आंखों में, मुंह में, नाक में, कानों में और सारे घर में भी संपत्ति की धूल तो खूब भर जाती है. परन्तु इस अन्धड़ में हमारा भजनीय व्रजाधिप उछलकर घर से बाहर कब फिंक जाता है यह हमें पता नहीं चलता!

श्रीमहाप्रभु का कहना है कि इस तृणावर्त को खतम करना हो तो एक ही उपाय है : 'बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मत: अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णम्' भक्ति का बीजभाव दृढ़ करना हो तो अपने निज घर में रहकर ही श्रीकृष्ण का भजन करना चाहिये. निज घर में श्रीकृष्ण को सर्वस्वनिवेदन करनेवाले भक्त के भीतर सभी तृणावर्त सहज ही थम जाते हैं, श्रीकृष्ण के प्रमेयबल से : 'एवं सदा स्वकर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति प्रभु: सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिततां व्रजेत्.'

कालियदमन

हमारी नि:साधनता के भावों वाली यमुना में अनेक इन्द्रियों के फनों वाला कालियनाग भी रहता ही है. इसके प्रत्येक फन में विषयासक्ति का विष भरा हुआ है. इन फनों को भक्ति रूप भगवच्चणारविन्द से कुचला न गया तो नि:साधनता का समूचा भाव विषाक्त बन जायेगा. अपने घर में यदि व्रजाधिप को हम नहीं पधराते तो भक्तिरूप चरणों के अभाव में विषयासक्त इन्द्रियरूप फनों को कुचल पाना शक्य न होगा. तब इस कालियनाग को कैसे नाथा जा सकेगा? निजगृह में व्रजाधिप की तनुवित्तजा तथा व्रजभक्तों के भावों की भावना से भरी सेवाभक्ति को अंकुरित होने देने की स्पृहणीयतम अनुकूलता है.

दोषहारी हरि के गुणों के गुणज्ञ बनो जगत के दोषों के दोषज्ञ नहीं

श्रीमहाप्रभु का स्पष्ट आश्वासन है कि हमारी ओर से यदि इतनी सी बात बन जाये तो बाकी सभी आसुर भाववाले दोषों के निवारण का आयास प्रभु करेंगे. उदाहरणतया अविद्या स्वरूपविस्मृति अन्त:करणाध्यास, प्राणाध्यास, इन्द्रियाध्यास, देहाध्यास, जन्य मिथ्या, अहन्ता-ममता आदि सभी दोष, ज्ञानमार्गीय साधक की तरह स्वयं हमें दूर करने की झंझट में नहीं पड़ना है. भक्तिमार्ग में भक्त को भगवान हरि के गुणों को जानकर भक्ति में लीन होना चाहिए. भक्तिमार्गीय साधक गुणज्ञ होता है. वह यदि भगवद्गुणों के बजाय अपने या जगत के दोषों के चिन्तन में फंस गया तो भगवदनुरक्ति के लायक मृदुता या बालसुलभ सरलता उसके हृदय में रह नहीं जायेगी. ज्ञानमार्गीय साधक के लिए विरक्ति अपरिहार्य नहीं तो भी आवश्यक तो होती है. विरक्ति के मूल में दोषबुद्धि रहती है. जब तक किसी वस्तु में दोष स्फुरित न हो हम उससे विरक्त नहीं हो पाते. अत: ज्ञानमार्गीय साधक का दोषज्ञ होना जरूरी होता है. परिणामस्वरूप पूर्वोक्त दोषों के निवारण के आयास के साथ ज्ञानमार्गीय साधना का प्रारंभ होता है.

ज्ञानमार्ग में अधिकारी दोषज्ञ होता है भक्त तो गुणज्ञ ही

ज्ञानमार्ग में अज्ञानजन्य दोषों का नाश ज्ञान के साधन प्रमाण द्वारा होता है. ज्ञानमार्ग में अतएव प्रमाणबल की अपेक्षा अधिक रहती है. भक्तिमार्ग में अज्ञानजन्य सभी तरह के दोषों का नाश प्रमाण रूप बलराम नहीं, अपितु प्रमेयरूप श्रीकृष्ण ही कर देते हैं. भक्त को केवल भगवान में तल्लीन होने का प्रयास करना चाहिये-- उसके दोष शनै: शनै: स्नेहमयी भक्ति या स्नेहास्पद भजनीय भगवान के महात्म्य या प्रमेयबल से स्वतएव दूर होने लग जाते हैं.

जैसे पालतू मछलियों के टब का जल गंदला हो जाने पर प्राय: बदलना पड़ता है. परन्तु सारा मलिन जल सहसा यदि टब के बाहर उलीच दिया जाये तो मछलियों के प्राण पर आ बीतेगी! अतएव सरल उपाय उसका यह होता है कि एक ओर से टब में निर्मल जल धीरे-धीरे भरा जाये और दूसरी ओर से मलिन जल की निकासी के लिए एक रबर की नली लगा दी जाये, यह

गुणाधान की प्रक्रिया है.

मछलियों को तड़पती कर के मलिन जल को सहसा बाहर उलीच देना और बाद में पुन: स्वच्छ जल भरने का प्रकार गुणाधान के बजाय दोषनिवारण पर भार देने की प्रक्रिया है.

ज्ञानमार्ग दोषनिवारण से साधना का प्रारंभ है, जबकि भक्तिमार्ग गुणाधान से साधना का प्रारम्भ चाहता है. अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि हमें तो व्रजाधिप के भजन में जुट जाना चाहिये, हमारे अनेकविध दोषों का वारण शनै: शनै: स्वतएव, अर्थात् स्वयमेव प्रभु ही कर देंगे : 'एवं सदा स्वकर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति प्रभु: सर्वसमर्थोहि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत.'

ज्ञानसाधनों में कठोरता है : भक्ति साधनों में मृदुता

ज्ञानमार्ग में शास्त्र के श्रवण के बाद मनन निदिध्यासन और वैराग्य जैसे साधनों में; अथवा यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि जैसे साधनों में भी एक तरह की रुक्षता या कठोरता रहती है. भक्तिमार्गीय साधनों में वैसी कठोरता या रुक्षता नहीं होती. भक्तिमार्ग में एक बार शास्त्रश्रवण कर लिया तो फिर मस्ती में कीर्तन स्मरण पादसेवन अर्चन वंदन दास्य सख्य और आत्मनिवेदन रूप मृदु साधनों के आवर्तनों में तल्लीन हो जाना पर्याप्त होता है.

भक्ति में बल : निश्छल भाव और भगवान का प्रमेय बल

भगवान जब अपने प्रमेयबल से भक्त के अज्ञानजन्य दोषों को अपनी बाललीलाओं से ही दूर कर देते हैं तो भक्त के लिए करने को बच जाता है, निश्चिन्त होकर भगवान की बाललीलाओं का मस्तीभरा श्रवण-कीर्तन-स्मरण! भक्त के लिए करने को बच जाता है अपने भजनीय व्रजाधिप के स्वरूप का चरणसेवन-अर्चन-वन्दन! जब सब कुछ हमने भगवान पर छोड़ दिया तो फिर चिन्ता किस बात की? हमें चिन्ता करनी चाहिये केवल इसी बात की कि हम व्रजाधिप के सच्चे सेवक या सच्चे सखा कैसे बने रहें! हमें तो अपने आत्मनिवेदन की चिन्ता करनी चाहिये-- भगवान के समक्ष एक बार जिस जीव ने अपना आत्मनिवेदन निश्छलभाव से कर दिया तो फिर चिन्ता स्वयमेव भगवान ही करेंगे : 'एवं सदा स्वकर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति प्रभु: सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत्.'

निश्चिन्तता का रहस्य

ज्ञानसाधन प्रमाण प्रक्रिया पर भार देते हैं जबकि भक्ति साधन प्रमेय परमात्मा के स्वरूप पर! क्योंकि जीवात्मा असमर्थ भी हो तो क्या हुआ? परमात्मा तो सर्वसमर्थ है. भक्त को अपने भगवान का पूरा भरोसा होता है कि वह जो करेंगे उसमें भक्त की भलाई ही होनी है. भक्त के गुण-अवगुण की भगवान के गुणों की तुलना में क्या बिसात है? भक्ति मार्गोचित निश्चिन्तता के बारे में प्रभुचरण श्रीविठ्ठलनाथ विरचित विज्ञप्ति के ये श्लोक मननीय हैं :

बलिष्ठा अपि मद्दोषाः त्वत्क्षमाग्रेति दुर्बलाः।
तस्या ईश्वरधर्मत्वाद् दोषाणां जीवधर्मतः।।
यथा वयं तदीयाः स्मः तथा सोपि निसर्गतः।
अस्मत्प्रभूरतश्चिन्ता नैहिके पारलौकिके।।

अर्थ : हमारे दोष कितने भी बलिष्ठ क्यों न लगते हों परन्तु भगवान की क्षमा करने की शक्ति की तुलना में वे नितान्त ही दुर्बल होते हैं. क्योंकि दोष अन्त में असमर्थ जीवात्मा के गुणधर्म होते हैं, जबकि क्षमा तो सर्वसमर्थ परमात्मा का गुणधर्म है! जैसे हम भगवान के हैं वैसे ही व्रजाधिप भी निसर्गतः हमारे प्रभु-स्वामी हैं. अतएव न तो हमें कोई ऐहिक चिन्ता होनी चाहिये और न कोई पारलौकिक चिन्ता ही!

सर्वसमर्थ व्रजाधिप प्रभु को जब हमने अपना सर्वस्व बना लिया तो फिर चिन्ता की कोई बात रह नहीं जाती!

मननीय भावना

इस भाव का निरूपण वृत्रासुरचतु श्लोकी में अतिशय मननीय शब्दों में दिया गया है:

न मुझे स्वर्ग चाहिये. न मुझे ब्रह्मा की पदवी चाहिये, न मुझे भूमि पर सार्वभौम साम्राज्य ही चाहिये. न मुझे रसातल पर आधिपत्य ही. न मुझे योगसिद्धियों की कोई अपेक्षा है और न मोक्ष की ही. मुझे तो तेरे सिवा और कुछ भी नहीं चाहिये.

पुष्टिमार्गीय काम का स्वरूप

यदि श्रीगोकुलधीशो
धृतः सर्वात्मना हृदि ।
ततः किमपरं ब्रूहि
लौकिकैः वैदिकैरपि ।।३।।

अन्वयार्थः

श्रीगोकुलाधीशः श्रीशक्ति तथा 'गोकुल' गाँव के स्वामी श्रीकृष्ण को **यदि** यदि **सर्वात्मना** सभी तरह से अथवा सर्वात्मभाव के साथ **हृदि** हृदय में **धृत** धारण कर लिया हो तो **ब्रूहि** कहो कि **ततः अपरम्** उसके अलावा **लौकिकैः** लौकिक साधनों से (अथवा) **वैदिकैः** वैदिक साधनों से (मिलनेवाले फल और) **किम्** क्या हो सकते हैं? ।।३।।

श्रीकृष्णदर्शन कामना का मुख्य स्वरूप / कामभाव सन्तोषरहित होता है / मन्दिरों में दर्शनार्थ दौड़ना वास्तविक कामभाव नहीं है / यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति / वृत्तियों के अनुपयोग एवं दुरुपयोग से बचो / वृत्तिविवेक / भूमा की अनुभूति में ज्ञानी और भक्त का तारतम्य / संगात् संजायते कामः / भगवत्काम से हृदय में सर्वात्मभाव की सिद्धि तथा भगवत्स्थिति / सर्वात्मभाव में केवलाद्वैतघटित तदादेश / सर्वात्मभाव में केवलाद्वैतघटित अहंकारादेश / सर्वात्मभाव में शुद्धाद्वैतघटित आत्मा / भक्त को सर्वात्मभाव सिद्ध होता है केवल सर्वात्मभान नहीं / सर्वात्मभाव में भगवत्संयोग तथा भगवद्वियोग का भेद नहीं / एक की अनेकता और अनेकों की एकता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं / भगवत्काम से सर्वात्मभावसिद्धि / परमात्मा सभी का कांत है / माहात्म्यज्ञान का स्वरूप / बुद्धिहीनों की कामतुष्टि की रीति हृदयहीनों के कामनाश की अन्तिम परिणति / भक्त तो हृदय एवं बुद्धि उभययुक्त होने के कारण भगवदनुरागवश विषयों में विरक्त होता है / गोकुलाधीश को आमंत्रित माहात्म्यज्ञान से किया जाता है परन्तु वे अनामंत्रित भी कभी स्वतएव आकार हृदय में छिप सकते हैं / भक्त पराजित नहीं होता और न भयभीत ही / ज्ञानी भयभीत होने से बहुधा पराजित भी हो जाता है / भगवत्काम संसारजनक नहीं किन्तु भजनानन्दजनक ही होता है / मननीय भावना.

पुष्टिमार्गीय काम का स्वरूप

श्रीकृष्णदर्शन की कामना को पुष्टिभक्ति में काम पुरुषार्थ के रूप में मान्य किया गया है: 'कामो

हरिदिदृक्षैव' परन्तु नेत्रों से श्रीकृष्ण के केवल दर्शनमात्र की कामना रखने के सीमित अर्थ में यह दर्शनाभिलाषा नहीं ली जाती.

श्रीकृष्णदर्शन कामना का मुख्य रूप

श्रीप्रभुचरण कहते हैं कि पुष्टिभक्त की कामना नेत्रों से केवल भगवान के दर्शन कर लेने से पूर्ण नहीं हो जाती. पुष्टिभक्त तो सभी इन्द्रियों से भगवान की अनुभूति चाहता है : ***दृष्टेपि भगवति यावत् सर्वेन्द्रियैः साक्षान्नानुभूयते न तावत् स्वास्थ्यम् इति न साक्षात्कारं मात्रं फलम् (टिप्पणी : १० । २० ।)***

अर्थ : भगवान के दर्शन पा लेने पर भी भक्त स्वस्थ नहीं हो पाता. वह तो सभी इन्द्रियों से भगवान का साक्षात् अनुभव नहीं हो पाता. वह तो सभी इन्द्रियों से भगवान का साक्षात् अनुभव पाना चाहता है. पक्का भक्त भगवान के केवल एक बार दर्शन पा लेने से सन्तुष्ट नहीं हो जाता. वह भगवान को केवल निरखना ही नहीं चाहता अपितु बात भी कुछ उनसे करना चाहता है. कुछ उनके मुखारविन्द से निःसृत मधुर शब्दों को सुनना भी चाहता है.

'जा दिन कन्हैया मोसो 'मैया' कहि बोलेगो आनन्द सुभग ता दिन गिनोगी री आली.'

भक्त तो भगवान के बाहुओं का स्पर्शसुख भी चाहता है. : 'सखा अंस पर वाम बाहु दिये जा छबिपै बिनमोल बिकाऊं सुन्दर मुख की हौं बलबल जाऊं!'

भगवान के श्रीकण्ठ में धारण की हुई तुलसी एवं पुष्पों की वनमाला को सूँघ लेने की भी भक्त को, कभी-कभी, लालसा जग जाती है.

भक्त केवल दर्शन कर लेने मात्र से सन्तुष्ट नहीं हो पाता. वह तो भगवान को सर्वात्मना चाहता है- अपनी सभी वृत्तियों से चाहता है. जैसे सभी नदियां सागर की ओर दौड़ती हैं; और जो स्वयं सागर तक पहुंच नहीं पातीं, वे उस नदी से जा मिलती हैं, जो सागर से मिल पाती हो! इसी तरह भक्त की देखने-सुनने, चलने-बोलने, इच्छा-स्मरण एवं जाग्रत-स्वप्न आदि सभी वृत्तियां उसी एक परमानन्द के लहराते सागर की ओर सभी बाधाओं लाँघ कर बहना चाहती हैं :

चितवन रोके हू न रही ।
श्यामसुन्दर सिन्धु सन्मुख सरित उमग बही ।।
प्रेम सलिल-प्रवाह मोही कवन थाह लई ।
लोल लहर कटाक्ष घूँघटपट कगार ढई ।।

निरन्तर बहना-- सारी बाधाओं को लांघ कर बहना-- सभी वृत्ति रूप नदियों का केवल उसी परमानन्द के सागर की दिशा में बहना-- इसी का नाम तो भक्ति है : 'मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोम्बुधौ' यही भगवत्काम का मुख्य रूप है.

कामभाव सन्तोषरहित होता है

काम का स्वभाव शास्त्र में इस तरह समझाया गया है कि काम्य विषयवस्तुओं के उपभोग कर लेने पर भी काम कभी शान्त नहीं हो पाता. घी से कहीं आग को कभी बुझाया जा सकता है क्या?

न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।

यही बात भगवत्काम पर भी लागू होती है जिसका हृदय एक बार हुए भगवत्साक्षात्कार से सन्तुष्ट हो जाता हो, वह कोई ज्ञानमार्गीय जिज्ञासु होगा-- भक्तिमार्गीय भगवत्कामी नहीं.

जो नदी बहकर सागर तक पहुंच पाती है वह सदा ही सागर तक पहुंचती ही रही थी, रहती है, और रहेगी. ज्ञानमार्गीय साधक ब्रह्म को जानना चाहता है. हाँ वह भी उसे चाहता तो है पर जानने के लिये ही. अतः जान लेने के बाद उसकी चाहना उसके हृदय में रह नहीं जाती. वह स्वयं समुद्र बनना चाहता है समुद्र की ओर बहना नहीं. अतएव जिज्ञासु जब ज्ञान पा लेता है तो जिस साकार रूप या आकृति के तट पर वह निराकार ब्रह्म से मिल पाया था उसे ही झुठलाना चाहता है 'वे सब उपासनार्थ कल्पित थे' कह कर! भक्ति की सरिता सागर बनना नहीं चाहती. सागर से मिलना चाहती है. अतएव निरन्तर बहती रहती है और निरन्तर मिलती रहती है सागर से-- चिरउत्कंठिता नायिका की तरह!

अपरोक्ष ब्रह्मानुभूति के बाद, अतएव, ज्ञानी शान्त और सन्तुष्ट हो जाता है. जबकि भगवत्स्वरूप की रसमाधुरी के आपानक के बाद भक्त अधीर, अशान्त एवं चिरपिपासु बन जाता है. भगवत्स्वरूपानुभूति भगवल्लीलानुभूति अथवा भगवान की नवधा भक्ति में चिरअतृप्ति का नाम भगवद्भक्ति है. संतत उत्कण्ठा का भाव ही भक्ति है. 'हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते!'

ज्ञानमार्गी किसी गन्तव्य स्थल पर शीघ्र पहुंच जाने की त्वरा रखनेवाला यात्री है. जबकि भक्तिमार्गी तो भगवत्काम के उपवन में टहलने आया सैलानी होता है.

मन्दिरों में दर्शनार्थ दौड़ना वास्तविक कामभाव नहीं है

समझने लायक तथ्य इसमें यह है कि हम मन्दिरों में दिन में एकाध बार नियमतः दर्शन करने जाने की वृत्ति को भक्ति मान बैठे हैं. मन्दिर में दर्शन किये बिना भोजन न करना-हम समझते हैं कि परमभक्ति है, नियमित क्लब में जाने के बजाय दर्शन को जाने का नियम एक अच्छा नियम है. परन्तु अच्छे नियम से अधिक कुछ भी तो वह नहीं! नवधा भक्ति में कहीं भी इस नियम को समाविष्ट नहीं किया गया है. श्रीमहाप्रभु ने षोडश ग्रन्थ में एक भी वचन इस नियम को भक्ति का अनिवार्य अंग बतानेवाला नहीं लिखा है. मन्दिर में भगवद्विग्रह के दर्शन की

केवल कामना-सत्कामना कही जा सकती है परन्तु काम-पुरुषार्थ नहीं. बहुतेरे पुष्टिमार्गीय, आजकल दुर्भाग्यवश, मन्दिरों में भगवद्दर्शनार्थ भटकते रहने में ही भक्ति की पराकाष्ठा समझते हैं. इससे कोई भी पुरुषार्थ अर्थात् चारों में से एक भी सिद्ध नहीं होता.

जिह्वा की स्वादलोलुपता के कारण भगवत्प्रसाद किसे नहीं सुहाता? पर उसे भगवत्काम नहीं कहा जा सकता.

इसी तरह भीड़ एकत्रित करने के हेतु की गई भड़कीली सजावट को देखने का शौक भी भगवत्काम होने के गौरव की ऊंचाई के पास कहीं फटकता नहीं है. क्योंकि सजावट का सौन्दर्य जनता के सम्मुख रखा जाता है. भगवत्स्वरूप के सम्मुख तो फूल नहीं किन्तु उनके डंठल रखे जाते हैं! फलत: ऐसे अपराध के कारण दर्शनार्थी की दृष्टि सजावट में भटक कर रह जाती है. वह भगवत्स्वरूप तक नहीं पहुंच पाती. और अतएव भगवत्काम जगाने में ये सारी प्रक्रियायें सर्वथा निष्फल सिद्ध होती हैं.

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति

हमारी सभी वृत्तियों को भगवदभिमुख बनाने के दो प्रकार सम्भव हैं :

(१) केवल बाह्य दर्शन, स्पर्शन श्रवण आघ्राण आदि के विषय के रूप में ही भगवान को चाहना, यह भगवत्कामना भगवान से जुड़ी हुई कामना होने पर भी तृतीय पुरुषार्थरूपा कामना या कामपुरुषार्थ नहीं.

(२) हृदय में भगवान को सर्वात्मना धारण करने के कारण, बाह्य एवं अन्तर, निरन्तर भगवदनसन्धान बनाये रखना; अथवा भगवत्काम के तीव्र आवेगवश भगवदविरह जन्य क्लेश का अनुभव होना यह अवश्य ही तृतीय पुरुषार्थरूप काम है.

प्रथम कल्प द्वितीय कल्प की भूमिका बन सकता है, परन्तु, काम-पुरुषार्थ तो भगवान को हृदय में सर्वात्मना धारण करना हो तभी सम्भव है. भगवान को सर्वात्मना हृदय में धारणा करना और सर्वात्मना कामभाव केवल ही भगवान में स्थापित करना ये दोनों अन्योन्याश्रित बातें हैं. अतएव श्रीमहाप्रभु ने निरोधलक्षण ग्रन्थ में यह समझाया है कि संसारावेश से दूषित होने से इंद्रियों को बचाना हो तो उन्हें भूमा-परमानन्दरूप श्रीकृष्ण के साथ यथोचित रूप में जोड़ देना चाहिये.

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत् ।।
गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः ।
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम् ।।
तदा भवेद् दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता।

बाधशंकापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति ।।
भगवद्धर्मसामर्थ्याद् विरागो विषये स्थिरः ।
गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित् ।।
एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षो गुणवर्णने ।
अमत्सरैरलुब्धेश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ।।
हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्ट तथा कृतिगती सदा ।।
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।
पायोर्मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत् ।।
यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ।।
नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ।।

लौकिक रूप - रस - गन्ध - स्पर्श - शब्दों में आसक्त अर्थात् संसारावेश से दूषित हमारी इन्द्रियों की दर्शनरति, आस्वादनरति, आघ्राणरति, स्पर्शनरति, श्रवणरति या अन्य भी कर्मेन्द्रियों एवं अन्तःकरण के व्यापारों में अभिव्यक्त होती रतियों का अहित दो तरह से सम्भव है : या तो उन्हें किसी भी प्रकार के निग्रह के बिना लौकिक विषयजन्य क्षुद्र-अल्प सुखों की खोज में निरन्तर यहाँ-वहाँ भटकते रहने देना; या फिर निग्रह के अतिरेक द्वारा उन्हें सर्वथा निःशेष ही कर देना.

क्षुद्र सुखदायी विषयों से इंद्रियों को व्यामुख करने की बात तो समझ में आ सकती है, परन्तु एतावता नेत्रों को या कर्णों को दर्शनरति या श्रवणरति से रहित बना देने में किसी नेत्रवान् या कर्णवान् को क्या लाभ मिल सकता है ? इन्द्रियवृत्तियों का ऐसा निग्रहातिरेक 'कुयोग' कहलाता है. बुराई न देखना एक अच्छाई हो सकती है परन्तु बुराई कहीं दीख न जाये इस भय से आँखों को फोड़ लेने में क्या अच्छाई है?

भूख लगते ही यद्वा-तद्वा कुछ भी खा लेना, खाद्य पदार्थ के शुद्ध, पवित्र, पोषक एवं स्वादिष्ट होने के विवेक के बिना; अथवा प्राणान्तकारी अनशन ही करने लग जाना, ये दोनों ही अस्वस्थ तथा अस्वाभाविक मनोवृत्तियाँ हैं.

वृत्तियों के अनुपयोग एवं दुरुपयोग से बचो

श्रीमहाप्रभु कहते हैं : सर्वेषामेव निरोधने तत्तदधिष्ठातृदेवद्रोहो भवत्येव भगवत्समर्पणे तु तद्वचनेन तदुक्तमेव कृतमिति न कोपि दोषः सम्भवति (सुबो. २।४।१७). इन्द्रियों की रत्यात्मिका वृत्तियों का दमन रूप अनुपयोग उचित नहीं है. इसी तरह क्षुद्र लौकिक विषयसुखों के उपभोग में उनका

दुरुपयोग भी उचित नहीं है. इनका सर्वथा अनुपयोग अथवा दुरुपयोग दोनों ही अस्वाभाविक एवं अस्वस्थ अतिरेक हैं. इनके बजाय कुछ भगवदुपयोग खोज निकालने पर इनका स्वस्थ सदुपयोग सम्भव बन जाता है.

वृत्तिविवेक

कुल मिला कर हमारे भीतर तरह-तरह की वृत्तियाँ गिनायी जा सकती हैं : दस वृत्तियाँ कर्मेंद्रिय और ज्ञानेन्द्रियों की. चार वृत्तियाँ अन्तःकरण की एक देह सम्बन्धी एक प्राणसम्बन्धी तथा एक आत्मसम्बन्धी. इन सभी वृत्तियों को भगवत्सम्बन्धी अर्थात् भगवद्विषयक बनाने से हमें भूमासुख अर्थात् सर्वात्मभाव सिद्ध हो सकता है. अतएव भूमासुख के निरूपण में कहा गया है कि 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यत् श्रुणोति नान्यद् विजानाति स भूमा (छान्यो. ७।२४।१)' इसे ही 'प्रपंचविस्मतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपनिरोध' भी कहा जाता है.

भूमा की अनुभूति में ज्ञानी और भक्त का तारतम्य

ज्ञानमार्गीय निरोध में प्रपंचविस्मृति एवं ब्रह्मभान ही केवल होता है. भक्तिमार्गीय निरोध में प्रपंचविस्मृति तो होती ही है परन्तु साथ ही साथ भगवदासक्ति भी सिद्ध होती है. उल्लिखित 'यत्र न अन्यत् पश्यति' के शब्दों में कहें तो ज्ञान '(यत्र) अन्यत् न पश्यति' है. जबकि भक्ति 'यत्र (अन्यत् न) पश्यति' है ज्ञान 'न पश्यति' पर अटक जाता है, जबकि भक्ति कुछ और कुछ और आगे बढ़ कर 'भगवन्तं पश्यति' तक पहुंच जाती है. यही तृतीय पुरुषार्थ काम भक्ति का सहायक बन जाता है. क्योंकि ज्ञानी लौकिक विषयों से केवल निष्काम होना तो जानता है, परन्तु वह भक्त की तरह भगवत्काम बनना नहीं जान पाता. वह तो निःसंग बनना चाहता है. भगवत्काम तो परन्तु भगवत्संग से ही पैदा हो सकता है.

संगात्संजायते कामः

विषयव्यासंग से इन्द्रियों में वैषयिक काम प्रकट होता है. इस सन्दर्भ में इन्द्रियों का त्रैविध्य ज्ञातव्य है (१) वे इन्द्रियाँ जिनका भगवत्स्वरूप के साथ साक्षात् सम्बन्ध शक्य हो (२) वे इन्द्रियाँ जिन से भगवत्स्वरूप का साक्षात् सम्बन्ध शक्य न होने पर भी भगवान के नाम गुण या प्रसाद आदि द्वारा सम्बन्ध शक्य हो (३) वे इन्द्रियाँ जिनका व्यापार ग्रहणात्मक न होकर विसर्जनात्मक होता है. उदाहरणतया पायु एवं उपस्थ इंद्रियों का व्यापार ग्रहणात्मक न होकर मलवीर्यादि के विसर्जन का होता है.

अब अन्तःकरण से तो भगवत्स्वरूप के ध्यान करने की प्रक्रिया में उसका साक्षात् विनियोग सम्भव है ही.

इसी तरह भगवत्स्वरूपदर्शन, भगवत्स्वरूपपादस्पर्श तथा कर चरणों से भगवत्सेवार्थ कृतिगति के रूप में इन इंद्रियों का भी साक्षात् विनियोग शक्य है.

श्रवण-कीर्तन द्वारा, प्रारम्भ में भगवद्गुणों के माध्यम से वाणी एवं कर्णों का भी परम्परया भगवद्विनियोग शक्य बन जाता है.

रसना तथा घ्राणेन्द्रिय को भगवत्प्रसादी अन्न एवं गन्ध के ग्रहण के व्रतधारण द्वारा भगवान के साथ जोड़ा जा सकता है.

पाय एवं उपस्थ इन्द्रियों की वृत्तियाँ ग्रहणात्मिका न हो कर मलमूत्र-वीर्य विसर्जनात्मिका होती है. फिर भी मलविसर्जनद्वारा देह को भगवस्सेवार्थ शुद्ध बनाना तथा कृष्णसेवार्थ सहयोगी पुत्रादि सन्तति की प्राप्ति की भावना से विसर्जनात्मिका वृत्तियों को भी भगवदभिमुख बनाया जा सकता है.

इस तरह साक्षात् अथवा परम्परया जिस वृत्ति का भगवदुपयोग शक्य न लगता हो उसका निरोध तो किया जा सकता है. परन्तु यह बात लक्ष्य में रखनी चाहिये कि सभी वृत्तियों के भगवद्विनियोग से श्रेष्ठ न तो कोई मन्त्र है, न स्तव, न कोई विद्या है और न तीर्थ है.

अतः भगवत्काम प्रकट करना हो तो सभी इन्द्रियों को साक्षात् अथवा परम्परया भगवद्रुप भगवद्गुण भगवन्नाम भगवत्प्रसाद भगवदर्थ कर्म आदि रूप में भगवत्संग प्रदान करना ही चाहिये. संग से काम प्रकट होता ही है : 'संगात् संजायते कामः'

भगवत्काम से हृदय में सर्वात्मभाव सिद्धि तथा भगवत्स्थिति

सभी इन्द्रियों को निरन्तर भगवत्संग प्रदान करने के व्यसनवश शनैः शनैः भगवत्काम और बाद में सर्वात्मभाव सिद्ध हो जाता है. सर्वात्मभाव की सिद्धि के साथ भगवान हृदय में विराजमान हो जाते हैं.

भगवद्व्यसन के कारण सर्वथा सर्वत्र सर्वदा भक्त को भगवान के सिवाय और कुछ सूझता ही नहीं है. और इस तरह विरह की उत्कट अवस्था में सर्वात्मभाव सिद्ध हो जाता है. इसका वर्णन उपनिषद् में बहुत सुन्दर हुआ है.

सर्वात्मभाव से केवल द्वैतघटित तदादेश

उत्कट विरह पीड़ा के कारण आसक्तिभ्रमन्याय से भक्त को, सर्वप्रथम, केवल द्वैतघटित सर्वात्मभाव प्रकट होता है : *'स एव अधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एव इदं सर्वम्,*

अर्थ : वही नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे है, वही आगे है, दक्षिण में भी वही है और उत्तर में भी वही यह सब कुछ है.'

सर्वात्मभाव में केवलाद्वैतघटित अहंकारादेश

अभी सभी ओर वह परमेश्वर अनुभूत हो रहा था कि उसी आसक्तिभ्रम-न्याय से अकस्मात् भक्त को लगने लगता है कि वह परमात्मा नहीं किन्तु स्वयं भक्त ही अब सर्वत्र विद्यमान है. यों केवलाद्वैतघटित अहंकारादेश सर्वात्मभाव में भासित होने लगता है : ***'अथातो अहंकारा-देशः एव अहमेव अधस्ताद् अहम् उपरिष्टाद् अहं पश्चाद् अहं पुरस्ताद् अहं दक्षिणतो अहम् उत्तरतो अहमेव इदं सर्वम् इति'***

अर्थ : मैं ही नीचे हूं, मैं ही ऊपर हूं, मैं ही पीछे हूं, मैं ही आगे हूं, दक्षिण में भी मैं ही हूं और उत्तर में भी मैं ही हूं, मैं ही तो यह सब कुछ हूं.

ज्ञानी इस अनुभूति के सोपान पर अटक जाता है. वह आगे बढ़ नहीं पाता. इसी सोपान पर पदविन्यास करते ही ज्ञानी मुक्त हो जाता है. भक्त के हृदय में भरा हुआ भगवत्काम, यहीं काम आता है, और वह एक कदम और आगे बढ़ जाता है !

सर्वात्मभाव में शुद्धाद्वैतघटित आत्मादेश

केवलाद्वैतघटित सर्वात्मभाव कभी भक्त के हृदय का समाधान नहीं बन सकता. अतएव भक्त तुकाराम कहते हैं ''अद्वैत तो नाही माझे समाधान गोड़ ही चरणसेवा तुझी.'' सर्वात्मभाव जब केवल द्वैतघटित तदादेश के रूप में होता है तो अनुभूति का विषय परोक्ष तथा अपने से भिन्न तत्पदवाच्य परमेश्वर होता है. सर्वात्मभाव जब केवलाद्वैतघटित अहंकारादेश के रूप में होता है तो अनुभूति का विषय सर्वथा अपरोक्ष एकमेव अद्वितीय अहंकरास्पद स्वयं जीवात्मा हो जाती है. परन्तु शुद्धाद्वैतघटित आत्मादेश में सर्वात्मभावात्मि का अनुभूति का विषय आत्मा होती है. यह तत्पदवाच्य परोक्ष अक्षर ब्रह्म या उपास्य दिव्य भगवद्रूप और अहंकारास्पद अपरोक्ष जीवात्मा के बीच परमात्मा के रूप में एकात्म्य या तादात्म्य की अनुभूति है : ***'अथात आत्मादेश एव आत्मैव अधस्ताद् आत्मैव उपरिष्टाद्, आत्मा, पश्चाद्, आत्मा, पुरस्ताद्, आत्मा, दक्षिणत आत्मा उत्तरत आत्मैव इदं सर्वम् इति.'***

अर्थ : आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे है और आत्मा ही आगे है, दक्षिण में भी आत्मा है और उत्तर में भी आत्मा ही, आत्मा ही तो यह सब कुछ है.

यह आत्मा क्या है ? भगवान ने भागवत में समझाया है कि ***'अहमात्मात्मना धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि,***

अर्थ : सभी प्रियों में प्रियतम सभी आत्माओं की आत्मा भगवान हैं. अतएव उन्हें परमात्मा कहा

जाता है. जैसे मित्रों में भी जो मित्र हो उसे 'परममित्र' कहा जाता है. गुरुओं के गुरु को जैसे 'परमगुरु' कहा जाता है.

अपनी शारीरक आत्मा के रूप में परमात्मा को निहारने पर न तो केवलद्वैत का और न केवलाद्वैत का ही स्फुरण सम्भव है. क्योंकि इस सम्बन्ध के लचीलेपन के साथ ये भारी-भरकम शब्द बेमेल सिद्ध हो जाते हैं. जैसे सुवर्णनिर्मित आभूषण और सुवर्ण के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या के लिये केवलद्वैत और केवलाद्वैत दोनों ही अपर्याप्त ठहरते हैं. केवलद्वैत मानने पर सुवर्ण से आभूषण को पृथक् नहीं किया जा सकता, केवलाद्वैत मानने पर आभूषणभावापन्न सुवर्ण और केवल सुवर्ण के स्वरूपभेद का समाधान नहीं मिलता. शुद्धाद्वैत न तो द्वैत है, न अद्वैत और न द्वैताद्वैत ही. इनसे ऊपर तुरीयकोटि का एक भावरूप 'तादात्म्य' पदवाच्य संबंध 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है.

यही सम्बन्ध भक्त को अपने और परमात्मा के बीच में अनुभूत होने लगता है. इसे न केवल 'तत्' से व्यक्त किया जा सकता है और न केवल 'अहम्' से ही. आत्मा न सर्वात्मना परोक्ष ही होती है और न सर्वात्मना अपरोक्ष ही. यही वह लुकाछिपी का खेल है जो आत्मादेश अर्थात् शुद्धाद्वैतघटित सर्वात्मभाव में भक्त को अनुभूत होता है.

तादात्म्य की अनुभूति में तत्ता अहन्ता दोनों ही समाविष्ट हो जाती हैं. भागशः त्याग अपेक्षित नहीं. क्योंकि दोनों ही रूप अबाधित सत्य है. फिर भी दोनों में एकात्म्य रहता है. जैसे कि जितनी वास्तविकता सुवर्ण की होती है उतनी ही तन्निर्मित आभूषण की भी, अतः दोनों ही वास्तविक होते हैं.

भक्त को सर्वात्मभाव सिद्ध होता है केवल सर्वात्मभान नहीं

इस आत्मभाव के स्फुरण होते ही जीवात्मा को एक विलक्षण अनुभूति होने लगती है :

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।।
यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।
यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।

अर्थ : प्रेमविकल होने से कम्पित होती जीवात्मा को विरहदशा में कभी ऐसा लगता है कि परमात्मा में भी कुछ कम्पन सा हो रहा है. कभी उसे लगता है कि नहीं वह तो सर्वथा निष्ठुर निष्कम्प है. तदादेश के समय जो कहीं दूर-दूर सा अनुभूत हो रहा था, वही अहंकारादेश में

एकदम करीब आ गया सा लगता था और वही परमात्मा अब आत्मादेश में अपने समेत सभी वस्तुओं के भीतर आत्मतया अनुभूत होने लग जाता है क्योंकि सभी वस्तुएं दृष्टा को अपने से बहिर्भूत लगती है, फलत: वही परमात्मा अन्तर में ही केवल नहीं अपितु सबके बाह्यतया भी अनुभूत होता है. आत्मादेश होने पर वस्तुमात्र आत्मा के रूप में अनुभूत होती है और इसी तरह आत्मा में भी सभी वस्तुओं की प्रतीति होती है. जिस दृष्टा को निज में वस्तुमात्र आत्मा की तरह प्रतीत होने लग जाय तब इस विलक्षण एकत्व के अनुदर्शन के कारण शोक, मोह कुछ भी रह नहीं जाते.

इस तरह आत्मभाव के स्फुरित होने पर विरह और संयोग के बीच की विभाजक रेखा धूमिल हो जाती है. एकत्व में अबाधित अनेकत्व और अनेकता में अनौपचारिक-अनारोपित एकता स्फुरित होने लग जाती हैं. दार्शनिकों का थोथा गणित एकत्व और द्वित्व के भेद का अनुभूति से पहले की जानेवाली सिरपच्ची है. परम अनुभूति में द्वैतवाद और अद्वैतवाद के पूर्वोत्तरपक्ष दोनों ही अंशतया सत्य सिद्ध हो जाते हैं!

सर्वात्मभाव की यह अनुभूति कूटस्थ साक्षिप्रत्यय की तरह शुद्धाद्वैत का केवल तटस्थ भान नहीं है, अपितु भावविभोर कर देनेवाला चंचल तथा परमप्रेमात्मक अनुभव है.

ज्ञानी को सर्वात्मभान होता है और भक्त को सर्वात्मभाव. यह सर्वात्मभाव भगवत्काम बनने पर ही शक्य है-- और ज्ञानी तो निष्काम होता है!

सर्वात्मभाव में भगवत्संयोग तथा वियोग का भेद नहीं

सर्वात्मभाव से सम्पन्न भक्त की अनुभूति में **तत्** और **अहम्** के बीच तादात्म्य स्फुरित होने लग जाता है. जो भी क्रीड़ा तब चलती है वह केवल तत् या केवल अहम् की नहीं. किन्तु अहमात्मक तद् की ही तदात्मक अहं के साथ क्रीड़ा चल रही होती है. अतएव तद् और अहम् के बीच संयोग एवं वियोग का अन्तर लुप्त हो जाता है. अतएव सर्वात्मभाव सम्पन्न भक्त को आत्मरति, आत्मक्रीड़ा, आत्ममिथुन, आत्मानन्द स्वराट् कहा जाता है :

'स एष एवं पश्यन् एवं मन्वान एवं विजानन् आत्मरति: आत्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्द: स स्वराट् भवति. तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति. अथ ये अन्यथातो विदु: अन्यराजनस्ते क्षय्यलोका भवन्ति. तेषां सर्वेषु लोकेषु अकामचारो भवति' (वही).

अक्षरब्रह्म और क्षरभूतों के बीच चलती क्रीड़ा में क्षराक्षर के भेद के कारण आत्मरति, आत्मक्रीड़ा या आत्ममिथुन आदि बोध सुलभ नहीं होता. दिव्य लोकों में आधिदैविक रूपों में चलती भगवल्लीला तथा इस आधिभौतिक जगत में कालकर्म स्वभाव से बन्धे हुए प्राणियों के जन्म

जीवनमरण के दुष्चक्र में भी आत्मरति, आत्मक्रीड़ा या आत्ममिथुन आदि का बोध सम्भव नहीं.

फिर भी सर्वात्मभाव के सिद्ध होते ही शारीरिक आत्मा और परमात्मा के बीच जो कुछ घटित होता है वह आत्मरति, आत्मक्रीड़ा, आत्ममैथुन या आत्मानन्द के रूप में ही दोनों को अनुभूत होता है. शारीरिक आत्मा की अहन्ता में भी परमात्मा की तत्ता स्फुरित होने लगती है और परमात्मा की तत्ता में शारीरिक आत्मा की अहन्ता स्फुरित होने लग जाती है. अतएव शारीरिक आत्मा सर्वलोक में यथाकाम विचरण कर सकती है.

परन्तु जो द्वैतभाव को छोड़ नहीं पाते उन भक्त और भगवान के बीच में राजा और प्रजा का भेद कायम रह जाता है. उपनिषद् कहता है वे क्षय्यलोक हो जाते हैं. वे यथाकाम सर्वलोकों में विचरण नहीं कर पाते.

एककी अनेकता और अनेकों की एकता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं

शारीरिक आत्मा और परमात्मा के बीच रहा तादात्म्य किन्हीं लोगों दिखलाई ही नहीं पड़ता. कुछ देखने में समर्थ हो पाते हैं तो स्वीकार नहीं कर पाते हैं कि जो दिखलाई दे रहा है वह पारमार्थिक है. वे या तो शारीरिक आत्मा के अंश होने के तथ्य को तथा परमात्मा के अंशी होने के तथ्य को मिथ्या माने लेते हैं; अथवा अंशांशी के अभेद को औपचारिक मान लेते हैं. कुछ लोग जो इन दोनों के बीच रहे तादात्म्य को देख पाते हैं और स्वीकार भी कर पाते हैं, वे अपनी वृत्तियों को परमात्मकेन्द्रित नहीं कर पाते. परिणामत: वे देखकर और स्वीकार कर भी साक्षात् अनुभव नहीं कर पाते. अतएव सर्व लोकों में उनका यथाकाम विचरण भी सम्भव नहीं बन पाता है. इस आशय से ही उल्लिखित वचन में : 'स एष एवं पश्यन् एवं मन्वान एवं विजानन् आत्मरति.... भवति.' कहा गया है. दर्शन, मनन एवं विज्ञान तीनों में एकवाक्यता दुर्लभ है. परन्तु यदि यह एकवाक्यता घटित हो जाती है तो दुर्लभ सर्वात्मभाव भी सुलभ बन जाता है.

श्रीमहाप्रभु भी, अतएव 'यदि' कहते हैं: हृदय में भगवत्कामवश, यदि, सर्वात्मभावसहित भगवान् आ विराजते हैं तो फिर लौकिक या वैदिक साधनों से प्राप्तव्य कुछ भी रह नहीं जाता : 'यदि श्रीगोकुलाधीशो धृत: सर्वात्मना हृदि तत: किमपरं ब्रुहि लौकिकै: वैदिकैरपि'.

भगवत्काम से ही सर्वात्मभाव की सिद्धि

बृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है : ***'काममय एव अयं पुरुष इति यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते (४।४।५)'***

अर्थ : यह पुरुष काममय है. अत: जैसा काम इसके भीतर प्रबल होता है वैसे ही क्रतु को यह अनुष्ठेय मानता है. जैसे क्रतु को अनुष्ठेय मानता है, तदनुसार कर्म करता है अन्त में वह जैसा कर्म करता है वैसा ही बन जाता है.

यह काम है क्या? प्रत्येक जीव, मनुष्ययोनि में जन मे अथवा मनुष्येतर पशु-पक्षी-सरी-सृप आदि योनि में जन मे, आस्तिक या नास्तिक, स्वधर्मनिष्ठ या स्वधर्मभ्रष्ट, पुष्टिमार्गीय, मर्यादामार्गीय या प्रवाहमार्गीय, सभी को सभी तरह के इन्द्रिय व्यापारों द्वारा आनन्दप्राप्ति की कामना रहती ही है. आनन्दप्राप्ति होती है प्रियवस्तु के लाभ से. तत्तत् वस्तुओं का हमें प्रियतां का भान होता है आत्मसम्बन्ध के वश ही : ***'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति***

अर्थ : जो भी हमें प्रिय लगता है वह स्वयम् आत्मा के कामवश प्रिय लगता है. यह आत्मा क्या है इसका स्पष्टीकरण भागवत के पूर्वोल्लिखित वचन में है ही : ***'अहमात्मात्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि, अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिर्यत्कृते प्रियः'***

अर्थ : सभी प्रियों में भगवान प्रियतम हैं. आत्माओं के भी आत्मा हैं. अतः आरंति करने लायक तो भगवान ही है क्योंकि देह, पुत्र, कलत्र, परिवार, गृह, धन, यश, आदि सभी कुछ भगवान के प्रियतम होने के कारण ही प्रिय लगते हैं.'

अतः भगवत्काम ही वह मुख्य ऊर्जा है जो दिशाबोधहीन होनेपर विषयासक्ति के बीहड़ जंगल में हमें भटकता हुआ छोड़ देती है और दिशाबोध होनेपर सर्वात्मभाव की सिद्धि की दिशा में ले जाने में भी समर्थ बन जाती है.

परमात्मा सभी का कान्त है

जगत में सभी तरह के काम या प्रेम द्वारा जिसे खोजा जा रहा है वह कान्त या प्रियतम वही परमानन्दरूप परमात्मा है.

जैसे अबोध शिशु भूखा होनेपर माता के स्तन्य की खोज मे स्वयं के अंगूठे को, खिलौने को या रबर की टोंटी को ही चूसने लग जाता है. उसे दूध तो नहीं मिलता परन्तु क्षणिक सुख की भ्रान्ति तो हो ही जाती है! इसी तरह हम भी सभी तत्तद् विषयों के अंगूठों को चूस रहे हैं, परमानन्द मिले या न मिले, परन्तु क्षणिक सुख की भ्रान्ति तो हमें भी हो ही जाती है!

इसे ही- ***'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः इति.... यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्'***

अर्थ : जो भूमापुरुष परमात्मा है वही सुख है-वही जिज्ञासितव्य है-वही अमृत है, जो अल्प है वह मर्त्य तथा नाशवान है, इस वचन में दिखलाया गया है.

प्राणिमात्र के भीतर परमात्मा को कान्त बनाने की कामना कूट-कूटकर भरी हुई है, जैसे शिशु में माता के स्तन्य की भूख, परन्तु न तो शिशु ही भलीभाँति उसे पहचान पाता है और न बुद्धिमान

(!) प्राणि भी! अतएव तो परमात्मा से इतर अन्य सभी विषयों से परमानन्द प्राप्त करने के प्रयास में हम अनवरत जुटे रहते हैं.

निर्जन अंधेरे प्रासाद में जैसे चमगादड़ आकर उलटे लटक जाते हैं और वहाँ गन्दगी फैला देते हैं. इसी तरह हमारे हृदय का भव्य भवन जब परमात्मा के माहात्म्यज्ञान के प्रकाश से आलोकित नहीं रहता तब; और जब उसमें भगवान की अभीष्ट मूर्ति का निवास नहीं होता, तब विषयकामनाओं के चमगादड़ वहाँ आकर उलटे लटक जाते हैं; और हर्ष-शोक-मोह-वासना की गन्दगी वहाँ भर जाती है.

इन चमगादड़ों को पचास बार उड़ा दो, परन्तु लौट-लौटकर वे फिर उलटे आ लटकते हैं! केवल इन्हें उड़ाने के निषेधात्मक प्रयास से कुछ होना-जाना नहीं है. हाँ, ऐसे अन्धेरे भवन को निरन्तर प्रकाश से आलोकित रखने की व्यवस्था जुटाई जाय; और कोई मनुष्य वहाँ रहना शुरू कर दे, तो फिर कुछ ही सप्ताहों में ये चमगादड़ स्वतएव भाग भी जाते हैं!

ज्ञानमार्ग में नश्वर विषयों के उपभोग से पनपी तृष्णा से पहले वैराग्य उत्पन्न होता है और तब वह वैराग्य अनश्वर आत्मा या अक्षरब्रह्म की ज्ञानप्राप्ति के लिये साधक को उकसाता है. ज्ञानप्राप्ति के एक साधन के रूप में ईश्वर की साकार मूर्ति से थोड़ा-बहुत स्नेह भी हमें हो जाता है. अन्त में, किन्तु, वही वैराग्य का स्वभाव हमें ईश्वरीय आकार या मूर्ति से भी वितृष्ण बना देता है क्योंकि ज्ञानी तो निष्काम होता है.

भक्तिमार्ग की शुरुआत भगवान् के माहात्म्यज्ञान से हृदय को आलोकित करने से होती है. माहात्म्यज्ञान के आलोक में भक्त अपने हृदय में अपने इष्टदेव की मूर्ति का निवास करवाता है. इस आलोक और निवास के कारण विषयवासना के चमगादड़ हृदय से बाहर उड़ने लग जाते हैं. और इस तरह भगवत्काम बनकर भक्त अपने हृदय में श्रीगोकुलाधीश को ही केवल धारण करने में समर्थ हो पाता है : 'यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि'

माहात्म्यज्ञान का स्वरूप

श्रुति स्मृति सूत्र एवं पुराण आदि शास्त्रों से प्रतिपादित शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवाद के अनुसार जड़, जीव और ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को समझना माहात्म्यज्ञान से हृदय को आलोकित करना है. चराचर जगत के साथ ब्रह्म के तादात्म्य को स्वीकारना माहात्म्यज्ञान से हृदय को आलोकित करना है. भगवान के दिव्य, रूप, नाम, गुणों एवं लीलाओं को मायिक या उपासनार्थ कल्पित न मानने से हृदय में माहात्म्यज्ञान का आलोक प्रसृत होता है.

गोकुलाधीश का स्वरूप

भागवत (२।७।३१) में कहा गया है-- ***'अह्नापृतं निशि शयानमतिश्रमेण लोकं***

विकुण्ठमुपनेष्यति गोकुलं स्वम्'--

अर्थ : जिस गोकुल में भगवान प्रकट हुए, उस गोकुल के वासी दिन में अपने कामकाज में लगे रहते थे और रात को थक कर सो जाते थे-- किसी तरह के पारलौकिक कर्म में उन्हें रुचि नहीं थी-- फिर भी उन्हें अपना मान कर भगवान ने अपना दिव्य व्यापिवैकुण्ठ ही गोकुल में प्रकट कर दिया था।

वैसे तो गोकुल के निवास सभी नि:साधन थे-- पर कभी-कभी कुछ असुर गोकुल में भी घुस आते थे-- उन असुरों को दबाने की सामर्थ्य गोकुल के ब्रजवासियों में कहाँ थी? फिर भी कोई असुर या दैत्य गोकुल के ब्रजवासियों का कुछ भी बिगाड़ नहीं पाया. ये जो असुर ब्रज में घुस आते थे वे व्रजभक्तों में रहे स्वरूपविस्मृति अन्त:करणाध्यास, प्राणाध्यास, इन्द्रियाध्यास, देहाध्यास तथा अन्य भी जो दोष हो सकते हैं, उनके मूर्तिमान रूप थे.

गोकुलं वनवैकुण्ठं तापसास्तत्र ये द्रुमा: लोभक्रोधादयो दैत्या
कलिकालस्तिरस्कृत: (कृष्णोपनिषद् ९).

इनका संहार भगवान ने अपनी बाललीलाओं से ही कर दिया था! इसी तरह ब्रजभक्तों की नि:साधनता को शास्त्रविहित साधनों से भी दुष्प्राप्य देवमुनिदुर्लभ फलानुभूति में रूपान्तरित भी कर दिया था अतएव उद्धव जैसे ज्ञानी को भी स्वीकार करना पड़ा कि ***'एता:परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावा: वांछन्ति यद्‌भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्मजन्मभिरनन्त कथारसस्य*** (भाग १०।४८।५८)'

तात्पर्य: वास्तविक रूप में इस भूतल पर किसी को देहधारण करना आया ही तो वह इन गोपवधुओं को ही आया है. प्राणिमात्र के आत्मा रूप भगवान गोविन्द में इन गोपवधुओं का स्नेह-भाव इतना रूढ़ कैसे हो पाया होगा जिस भावदशा को भवभीत मुनिजन और हम भी पाने की वांछा ही करते रहते हैं. अनन्तकथाओं में रस लेने वाले ब्रह्मभावसम्पन्न जन्म से भी क्या मिल जानेवाला है यदि गोविन्द में हमारा भाव इस तरह रूढ़ न हो जाता हो तो!

श्रीमहाप्रभु सुबोधिनी (३।२५।३२) में कहते हैं कि स्वभावत: हमारी इन्द्रियों में भी दो तरह की वृत्तियाँ होती हैं दैवी और आसुरी. इनमें परस्पर तीव्र स्पर्धा रहती है और इस स्पर्धा में प्राय: आसुरी वृत्ति का विजय होता है. इन्द्रियों को 'गो' भी कहा जाता है. अत: हमारे भी इस गोकुल में इन्द्रियों की सामूहिक वृत्तियों का स्वामी यदि हम भगवान को बना लें, अर्थात् गोकुलाधीश को अपने हृदय के सिंहासन पर आरूढ़ होने दें, तो फिर इन इन्द्रियों में रहे सारे आसुर भावों को भी भगवान् व्रज की तरह ही अपनी बाललीला से ही खतम भी कर सकते हैं. हम भी अपने संसार में दिन-रात रचे-पचे रहते ही हैं, परन्तु हृदय में श्रीगोकुलाधीश को धारण कर सांसारिक

कार्यों में जुट भी जायें तो हमारी भी नि:साधनता को भगवान् सर्वात्मभाव में विकसित कर देंगे : 'यदि श्रीगोकुलाधीशो धृत: सर्वात्मना हृदि तत: किमपरं ब्रूहि?'

बुद्धिहीनो की कामतुष्टि की रीति

जो लोग बुद्धि के प्रयोग के बिना केवल इन्द्रियों के विषयों से ही कामतुष्टि चाहते हैं. उन्हें कभी न कभी बुद्धिप्रयोग करना ही पड़ता है और अन्त में पछताना भी पड़ता ही है. क्षुद्र विषयानन्द का तो स्वरूप ही ऐसा होता है.

हृदयहीनों के कामनाश की अन्तिम परिणित

जो इन्द्रियदमन करने के चक्कर में केवल बुद्धि से ही आत्म-साक्षात्कार की सिद्धि के भुलावे में पड़ जाते हैं, उनका भवदु:ख तो दूर हो जाता है, परन्तु उन्हें परमात्मसुख नहीं मिलता. जैसे किसी औषधि के सेवन से रोग मिट जाने पर भी रोगी बनने से पहले शरीर में जो स्वास्थ्य, शक्ति एवं स्फूर्ति रहती थी वह न लौट पाये.

इन्द्रियदमन द्वारा केवल आत्मसाक्षात्कार के लक्ष्य से कुछ और ऊपर उठने वाले साधक अक्षर-ब्रह्म की खोज में जुट पाते हैं. उन्हें ब्रह्मानन्द तो अवश्य मिलता है. परन्तु इकतरफा खोज की वृत्ति के कारण ये साधक सर्वाकारता के अर्थ में नहीं, निराकारता के अर्थ में ही ब्रह्म की व्यापकता को समझ पाते हैं.

वास्तविकता जबकि यह है कि ब्रह्म सर्वव्यापी है अर्थात् देश-काल-स्वरूपत: अपरिच्छिन्न है. यह वह अपनी निराकारता के कारण भी है और सर्वाकारता के कारण भी.

इन्द्रियदमन के कठोर चक्र में फंसे हुए इन साधकों की बुद्धि में निराकारता तो समझ में आ जाती है, परन्तु सर्वाकारता के दर्शन के लायक दिव्यदृष्टि इनके पास रह नहीं जाती! जैसी अर्जुन को भगवान ने दिव्यदृष्टि प्रदान की थी वैसी दिव्यदृष्टि भगवान इन्हें प्रदान नहीं करते. केवल दिव्य बुद्धि ही प्रदान करते हैं. विषय-वैराग्यवश ब्रह्मानन्द के अनुरागी बनने वाले साधक की यह मौलिक न्यूनता उसे ब्रह्मानन्द की अनुभूति में भी बाधक बन जाती है. वह 'नेति-नेति' तो समझ पाता है परन्तु 'सर्वकाम: सर्वगन्ध: सर्वरस:' वचन को वह उपासनार्थ कल्पितरूष का वर्णन मान कर झुठला देना चाहता है. जबकि श्रौत सिद्धान्त तो 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैव अमूर्तं च' का ही है.

अतएव भगवान ने गीता (१२।३-५) में 'येत्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते... संनियम्येन्द्रियग्रामं... क्लेशोधिकतरस्तेषाम-व्यक्तासक्तचेतसामव्यक्ता हि गति: दु:खए...' कह कर सारी बात समझा दी है.

भक्त तो हृदय एवं बुद्धि उभययुक्त होने के कारण भगवदनुरागवश विषयों से विरक्त होता है

विषयविरक्तिवश परमात्मा के निराकार-- व्यापकरूप से अनुरक्ति करनेवाले ज्ञानमार्गीय अव्यक्तोपासक की अन्तिम गति, भौतिक दृष्टि से तो यद्यपि सुखरूपा होती है ब्रह्मानन्द के कारण, फिर भी आधिदैविक दृष्टि से तो दु:खरूपा ही होती है, भजनानन्द न मिल पाने के कारण-- 'अव्यक्ता हि गति: दुखं देहवद्भिरवाप्यते'.

इसके विपरीत जो परमात्मा में अनुरक्तिवश लौकिक विषयों से विरक्त हो जाते हैं, वे भक्तिमार्गीय पुरुषोत्तमोपासक कहलाते हैं. क्योंकि भगवान् गीता में स्पष्टीकरण देते हैं कि क्षर पुरुष से ऊपर तथा अक्षर ब्रह्म से उत्तम होने से भगवान् के अपने दिव्य साकार रूप को लोक एवं वेद में 'पुरुषोत्तम' कहा जाता है. 'यस्मात्क्षरमतीतोहमक्षरादपि चोत्तम: अतोस्मि लोके वेदे च प्रथित: पुरुषोत्तम:' अत: श्रीकृष्ण के रूप में परमात्मा की भक्ति करनेवाले 'पुरुषोत्तमोपासक' कहे जाते हैं.

इन पुरुषोत्तमोपास कों को देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्त:करण आदि सभी वृत्तियों से परमात्मा के भजनानन्द की उपलब्धि होती है.

श्रीमहाप्रभु ब्रह्मानन्द एवं भजनानन्द का तारतम्य समझाते हुए कहते हैं :

ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमा ।
संघातस्य विलीनत्वाद् भक्तानां तु विशेषत: ।।
सर्वैन्द्रियैस्तथा चान्त:करणैरात्मनापि हि ।
ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृह एव विशिष्यते ।।

(शास्त्रार्थ निबन्ध)

तात्पर्य : ब्रह्मानन्द में मग्न साधक केवल अपनी आत्मा को ही ब्रह्म से जोड़ पाता है क्योंकि मुक्ति से पूर्व इसका देहादिसंघात ज्ञानवैराग्यवश विलीन हो जाता है. जबकि भक्त को तो अपनी सभी इन्द्रियों से, अन्त:करण से एवं आत्मा से भी यहीं ब्रह्मभाव का अनुभव हो जाता है. अत: भक्त का तो गार्हस्थ्य भी ज्ञानी के मोक्ष से कुछ विशेषता लिए हुए होता है.

गोकुलाधीश को आमन्त्रित माहात्म्यज्ञान से किया जाता है परन्तु वे अनामन्त्रित भी कभी स्वतएव आकर हृदय में छिप सकते हैं

भागवत (११।१२।१३-१५) में भगवान ने निज मुखारविन्द से माहात्म्यज्ञान के बिना भी स्वप्राप्ति का एक कृपैकमूलक उपाय और बताया है:

मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबला ।

ब्रह्म मां परमं प्रापु: संगाच्छतसहस्रश: ।।
तस्मात्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् ।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिंच श्रोतव्यं श्रुतमेव च ।।
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभय: ।।

तात्पर्य : भगवान को अपना जार प्रेमी माननेवाली गोपिकायें भगवान के स्वरूप को जान ही नहीं पाई थी, भगवत्कामवश फिर भी शतसहस्रश: उन्हें परब्रह्म् भगवान श्रीकृष्ण की प्राप्ति हो गई! केवल भगवत्संग के कारण अत: विधिनिषेधों की प्रवृत्ति-निवृत्ति की एवं श्रोतव्यश्रुत की चिन्ता किये बिना सभी देहधारियों के आतमरूप एकमात्र भगवान् की शरण में जाना चाहिये. सर्वात्मभावपूर्वक भगवान् की शरण में जाने से सभी तरह के भय निवृत्त हो जाते हैं.

भक्त पराजित नहीं होता और न भयभीत ही

परमात्मानुरक्त भक्त विषयों के आकर्षण से अभिभूत नहीं होता. भगवान् स्वयम् यह स्वीकारते हैं कि--

बाध्यमानोपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रिय: ।
प्राय:प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ।।
यथाग्नि: सुसमृद्धार्चि: करोत्येधांसि भस्मसात् ।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नश: ।।

तात्पर्य : भक्त अजितेन्द्रिय होने पर भी-विषयों से बाधित होने पर भी - प्राय: अपनी प्रगल्भ भक्ति के कारण विषयों से अभिभूत या पराजित नहीं होता. प्रज्वलित अग्नि जैसे ईंधन को भस्मसात् कर देती है, इसी तरह भगवद्विषयिणी भक्ति सारे पापों को भस्मसात् कर देती है.

अतएव ज्ञानी की तरह भक्त द्वैतघटित संसार से भी भयभीत नहीं होता. कुछ ज्ञानी तो श्रुति के अर्धवचन - 'द्वितीयाद् वैभयं भवति' सुनते ही इतने घबरा जाते हैं कि स्वयं परब्रह्म परमात्मा भी द्वैतघटित साकार रूप में प्रकट हो जायें तो भगवान की भी उस दिव्य आकृति को वे मिथ्या, मायिक या उपासनार्थ कल्पित मानकर, भक्ति करने के बिजाय भगवदाकृति के आकर्षण से भी शीघ्र मुक्त हो जाना चाहते हैं! ज्ञानी में वचन के उत्तरार्ध सुनने की हिम्मत ही नहीं रह जाती - 'स वै नैव रेमे तस्मादेवकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत' या 'सोऽकामयत' द्वितीयो म आत्मा जायेतेति.

भक्त तो भगवान के हरवचन को बड़ी धीरज से सुनने को लालायित ही रहता है. अत: उसे यह सरलता से समझ में आ जाता है कि भक्त और भगवान के रूपों का द्वैत स्वयं सत्यसंकल्प

परमात्मा की वैसी कामना के कारण प्रकट हुआ है. वह मायिक नहीं है अत: भगवदिच्छा एवं भगवल्लीला को भलीभाँति पहचानता होने के कारण भगवान जैसे भक्तकाम हैं वैसे ही भक्त भी भगवत्काम बन जाता है. उसे द्वैतभय कभी सताता नहीं!

ज्ञानी भयभीत होने से पराजित भी हो जाता है

भगवत्काम होने के बजाय जो ज्ञानी निष्काम होने के दुष्कर आयास में उलझता है वह प्राय: वैराग्यवश त्याग के पथ पर अग्रसर होने के बजाय त्यागद्वारा वैराग्य प्राप्त करना चाहता है और वैराग्य द्वारा ज्ञान और फिर ज्ञान द्वारा मुक्ति. परन्तु होता है बहुधा उलटा ही. त्याग से वैराग्य प्राप्त करने के मोह में ज्ञानी अपनी पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा को शिष्यैषणा में त्रिगुणित करके छिपा लेता है. वह पुत्रकामी, वित्तकामी एवं लोककामी बनने के बजाय शिष्यकामी बन जाता है. जिसमें पुत्र-वित्त-लोक-सम्बन्धी तीनों कामनायें छिपी रहती हैं! अतएव भगवान ने गीता में कहा है-

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाआदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।।
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।।
(गीता...३।३२-३९)

तात्पर्य: जैसे आग धुएँ से घिर जाती है, जैसे मुख की भाप से दर्पण मलीन हो जाता है अथवा जैसे गर्भस्थ शिशु उल्ब से लिपटा हुआ रहता है, इसी तरह ज्ञानियों का ज्ञान उसके चिरशत्रु काम से घिरा हुआ रहता है.

अत: पुत्र-वित्त-लोक के बाह्य त्याग द्वारा वैराग्य के प्रयास में रत ज्ञानी को शिष्यैषणा के रूप में काम पुन: छल जाता है! द्वैतभीत एवं कामभीत ज्ञानी वन-पर्वतों में लुका-छिपी करने पर भी वहाँ भी सभी तरह के शिष्यों से घिर जाता है. और फिर वही कथा नामान्तरवाले पात्रों के साथ शुरू हो जाती है! ऐसे भयभीत ज्ञानी के वाक्य सच्चे निर्भय भक्त को कभी भक्तिमार्ग से च्युत नहीं कर सकते! ऐसे भक्तों के बीच स्वयं ज्ञानियों को दुर्दान्त शिष्यैषणावश, जिस भगवद्रूप गुण-लीला को वह मिथ्या-मायिक मानता है, उन्हें ही याद कर करके अश्रुपात कण्ठावरोध आदि भक्ति के अनुभावों को प्रदर्शित करना पड़ता है!....

...परन्तु जिस भक्त के हृदय में सर्वात्मना प्रभु बिराज गये हों वह ज्ञानियों के वचनों से कभी मोहित नहीं हो पाते अतएव तो उद्धव के वचन सुनकर ब्रज की गोपवधुओं ने एक बड़ी मजेदार बात कह दी थी, जिसका वर्णन उद्धवशतक में रत्नाकर ने किया है:

चाहत निकाल्यो तिन्हें जो उस अन्तरतें
ताको जोग नाहि जोगमन्तर तिहारे में ।।
कहे रतनाकर विलग करिवे में होति
रीति विपरीत महा कहति पुकारे में ।।
तातै तिन्है ल्याई ल्याई हियतैं हमारे बेगि
सोचिये उपाय फेरि चित्त चेतवारे में ।।
ज्यों-ज्यों भजे जात दूरि-दूरि प्रिय प्रानमूरि
त्यो-त्यो धंसे जात मनमुकुर हमारे में ।।

भगवान को सर्वात्मना हृदय में धारण करने पर भगवत्संयोग हो अथवा भगवद्वियोग परन्तु सर्वात्मभाव के सामर्थ्यानुसार भक्त को निरन्तर भगवत्प्रतीति बनी रहती है. मनदर्पण से भगवन्मूर्ति दूर भी जाये तो दर्पण के तो और भीतर जाती है न!

भगवत्काम संसारजनक नहीं किन्तु भजनानन्दजनक ही होता है

इस तरह हम देख सकते हैं कि निष्काम ज्ञान से मिलते लाभ भगवत्कामवाली भक्ति से भी मिल जाते हैं. परन्तु भगवत्कामवाली भक्ति से मिलते लाभ ज्ञान से सम्भव नहीं. भगवान अतएव कहते हैं :

न मय्यावेशितधियां काम: कामाय कल्पते ।
भर्जिता: क्वथिता धाना भूयो बीजाय नेष्यते ।।

अर्थ : जिन्होंने अपनी बुद्धि सर्वात्मना भगवान् में लगा दी है, ऐसे भक्तों का काम कभी लौकिक काम की तरह नहीं रह जाता. लौकिक काम से संसार बढ़ सकता है. परन्तु भगवत्काम से नहीं. जैसे भुने हुए या उबाले हुए धान पुन: बीज की तरह बोये जाने पर भी अंकुर पैदा नहीं कर पाते.

अतएव भगवदनुरागवश पैदा हुआ विषयवैराग्य एक विलक्षण वैराग्य होता है. जबकि जागतिक विषयों में वैराग्य के कारण परमात्मा के बारे में भी पैदा हुआ अनुराग उतनी स्वस्थ मनोवृत्ति नहीं है.

प्रथम में निरन्तर भगवद्गुणों का चित्त में आवेश बना रहता है. जबकि द्वितीय में जागतिक विषयों के तथाकथित अवगुण मायिकता, मिथ्यात्व या नश्वरता प्रभृति से ही चित्त दूषित बना रहता है.

निष्कर्षत: भगवत्काम अपने चित्त को लौकिक विषयों के बारे में अनुराग एवं विराग दोनों से बचाता है. केवल परमात्मा में चित्त को तल्लीन करने का नाम ही भगवत्काम है. जो मुनियों को भी सर्वथा सुलभ तो नहीं है.

आत्मारामश्च मुनयः निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्ति मित्थंभूतगुणो हरिः ।।

अर्थ : लौकिक विषयों में आसक्ति टूट जाने के कारण अन्तःकरण की सभी ग्रन्थियों को खोल कर आत्मरमण करनेवाले मुनिजन भी, कोई हेतु न होने पर भी हरिभक्ति तो करते ही हैं. क्योंकि हरि में कुछ ऐसे ही गुण हैं.

आत्मा के ऐकान्तिक अद्वैत में वह भजनानन्द सम्भव नहीं है, भगवत्कामवश भगवान को अपना कान्त बनाने पर जैसे भजनानन्द की उपलब्धि होती है.

भजनानन्द में शुद्धाद्वैत के कारण भक्त और भगवान का निर्भय रमण सम्भव है. संसार में रमण तो सम्भव है परन्तु द्वैत के कारण उसमें निर्भयता नहीं. इसी तरह अद्वैत के कारण मुक्ति में भी निर्भयता सम्भव है, पर वहाँ रमण सम्भव नहीं. अन्यथा एकमेवाद्वितीय ब्रह्म के लिये - 'स एकाकी न रमते' क्यों कहा जाता ?

श्रीमहाप्रभु, अतएव, कहते हैं कि श्रीहरि को हृदय में पधराओ-- हरिदिदृक्षारूप काम के बलपर- - यह काम भगवत्संग से प्रकट हो सकता है. अतः भगवत्सेवा और अथवा भगवत्कथा के द्वारा चित्त को भगवत्संग प्रदान करो! एक न एक दिन हृदय में भगवत्काम प्रकट हो ही जायेगा, जब भगवद्व्यसन सिद्ध हो जायेगा! और यह होते ही भगवान हमारे हृदय में आ बिराजेंगे ! फिर क्या अवशिष्ट रह जायेगा कहो : 'तत : किमपरं ब्रूहि लौकिकैः वैदिकैरपि ?'

मननीय भावना

है अरविन्दाक्ष! मेरा हृदय तुम्हारे दर्शन चाहता है. जब मेरा मन तुम्हारे दर्शन चाहता है तो वह सभी इन्द्रियों के द्वार से तुम्हें ही केवल अन्दर पधराना चाहता है. जैसे पक्षी के पंख बिना के बच्चे चुगे के लिए अपनी माता की प्रतीक्षा करते हैं-गाय का बछड़ा अपनी माता के स्तन्य की कामना करता है-सम्भवतः चुगा या दूध और किसी तरह मिल जाये तो वे अपनी माता को भूल भी सकते हैं-परन्तु मेरा मन तो परदेश गये प्रियतम की सच्ची प्रेमिका की तरह विरही बन कर निरन्तर तुम्हारे ध्यान मनोरथों पर सवार तुम्हें ही खोजता रहता है.

पुष्टिमार्गीय मोक्ष का स्वरूप

अतः सर्वात्मना शश्वद
गोकुलेश्वरपादयोः ।
स्मरणं भजनं चापि
न त्याज्यमिति मे मतिः ।।४।।

अन्वयार्थः

अतः इसलिये **सर्वात्मना** सभी तरह से या सर्वात्मभाव के साथ शश्वद् सर्वदा **गोकुलेश्वरपादयोः** गोकुलेश्वर श्रीकृष्ण की **स्मरणं** लीलाओं के स्मरण का **च** और **भजनं** उनके स्वरूप की सेवा का अपि भी **न त्याज्यम्** कभी त्याग नहीं करना चाहिये इति यही मे मतिः मेरा (महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य का) निर्णय है ।।४।।

कृष्णदर्शन की सच्ची लालसा होने पर न लीलास्मरण छूट सकता है और न स्वरूप सेवा ही / भक्ति का विकास /अव्यावृत्त यानि अनन्यभाव / लौकिकरति, भगवद्रति तथा भक्ति का अन्तर / भगवत्प्राकट्य से भगवद्भक्ति के प्राकट्य का क्रम/ भगवद्भक्ति से भगवत्प्राकट्य का क्रम / सेवा-कथा और केवलकथा / भगवत्सेवा का अवसर भगवत्संयोग है तथा अनवसर भगवद्वियोग / संसारी, मुमुक्षु और भक्त / शश्वद् / गोकुलेश्वर पादयोः / न त्याज्यम् ! न त्याज्यम् !! न त्याज्यम् !!! इति मे मतिः / स्वरूपनिरपेक्षा भक्ति भी क्या कोई भक्ति है?/ क्या भगवत्स्वरूप की सेवा आज के युग में सम्भव नहीं / केवल भगवत्कथा में ही वियोगभावना करना एक निरा पाषण्ड है / कलौ भक्त्यादिमार्गाः दुःसाध्याः (!)/ सेवा क्या केवल उच्च अधिकारियों का ही कर्तव्य है?/ भगवान् के स्वरूप की संनिधि में ध्यानयोग (!)/ मननीय भावना /

पुष्टिमार्गीय मोक्ष का स्वरूप

तीसरे श्लोक में कहा गया था कि पुष्टिभक्त का काम श्रीकृष्णदर्शन लालसा है. अपने प्रियतम गोकुलाधीश श्रीकृष्ण के दर्शन की लालसा भक्त के भीतर तब तीव्रतया बढ़ जाती है जब उस प्रेमी-भक्त के गोकुल में (नेत्र आदि इन्द्रियों के समूह के समक्ष) भगवान् प्रकट दर्शन न देते हों. भगवान् तो सभी वस्तुओं तथा प्राणियों के भीतर भी विराजमान हैं और बाहर भी. फिर भी दर्शन कभी-किन्हीं को भीतर होते हैं तो कभी-किन्हीं को बाहर. भक्त को अपने प्रियतम भगवान के दर्शन जब बाहर नहीं होते, तो उसकी सभी इन्द्रियों की स्नेहात्मि का वृत्तियों के एकमात्र

आकर्षण हेतु तथा अधीश गोकुलाधीश, भक्त के हृदय में छिप गये होते हैं! तब भक्त की कृष्णदर्शन लालसा बहुत तीव्र हो जाती है. तीसरे श्लोक में यह भी कहा गया था कि भगवान को सर्वात्मना अपने हृदय में पधरा लेनेवाले भक्त के भीतर अन्य किसी भी लौकिक या वैदिक साधन या फल का मोह शेष नहीं रह जाता. ऐसे कृष्णदर्शन लालसावाले भक्त का मोक्ष केवल इसी में निहित है कि वह सर्वात्मना श्रीकृष्ण का बन जाये : 'मोक्षो कृष्णस्य चेद् ध्रुवम्.'

पुष्टिभक्त श्रीकृष्ण का बनना चाहता है. ज्ञानियों की तरह, स्वयमेव श्रीकृष्ण नहीं.

सर्वात्मना श्रीकृष्ण के बनने का मतलब है. प्रपंच की विस्मृति और श्रीकृष्ण में दृढ़ आसक्ति. इसे ही 'भक्ति का व्यसन' भी कहते हैं. श्रीकृष्ण का व्यसन-उनकी भक्ति, उनकी सेवा, उनकी लीलाओं के स्मरण का व्यसन और उनके नामों के उच्चारण का व्यसन-भक्त को हो जाता है. श्रीकृष्ण की निरन्तर अनुभूति की कामना का इतना तीव्र बन जाना कि या तो भक्त श्रीकृष्ण का प्रत्यक्ष अनुभव पाता रहे अथवा वह श्रीकृष्ण के चिन्तन-स्मरण में सर्वथा खो ही जाय!

भक्तिमार्गीय निरोध का स्वरूप भी यही है: 'प्रपंचविस्मृतिपूर्वि का भगवदासक्ति: निरोध:' परन्तु भक्ति के व्यसनदशा में विकास के बिना यह सम्भव नहीं है. जिस का हमें व्यसन हो जाता है उसके बिना हम रह ही नहीं सकते.

कृष्णदर्शन की सच्ची लालसा होने पर न लीलास्मरण छूट सकता है और न स्वरूपसेवा ही.

अपने हृदय में श्रीकृष्ण को जो धारण कर पाते हैं उनकी श्रीकृष्णदर्शन की लालसा को, किन्तु, पुष्टिभक्ति का चरम पुरुषार्थ नहीं समझ लेना चाहिये. यह तो ठीक ही है कि कोई लौकिक या वैदिक साधन या फ़ल श्रीकृष्णदर्शन की सच्ची लालसा से उत्कृष्ट नहीं हो सकते हैं, फिर भी जैसा कि उर्दू भाषा के एक कवि ने कहा है-

सितारो से आगे जहाँ और भी है ।
अभी इश्क के इम्तहाँ और भी हैं ।।

वैसे ही कृष्णदर्शन की सच्ची लालसा से ऊपर, पुष्टिभक्ति के गगन में, और भी ऊंची उड़ान अवशिष्ट रह ही जाती है.

जिस जीवात्मा का श्रीकृष्णदर्शन लालसा के साथ परिणय हो जाता है, तब उस मंगलमय दाम्पत्य के कारण श्रीकृष्णस्वरूपसेवा और श्रीकृष्णलीला चिन्तन रूप सन्तति का जन्म जो नहीं होता, तो कुछ गड़बड़ है! या तो जीवात्मा क्लीब है या फिर कृष्णदर्शन लालसा को वन्ध्या समझना चाहिये. अतएव महाप्रभु कहते हैं :... स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम्...

अणुभाष्य (४/२/१) में यह कहा गया है कि भक्ति स्नेहात्मिका होती है और स्नेह का फल

निश्चिततया प्रभु का प्राकट्य है- 'भक्ते: स्नेहात्मकत्वात् तस्य प्रभुप्राकट्यफलकत्वात्.' अतएव सेवा के अनवसर में भगवान की लीलाओं का चिन्तन करने वाले भक्त के हृदय के भीतर भगवान का आन्तर प्राकट्य होता है. इसी तरह सेवा के अवसर में प्रत्यक्षतया दर्शन देते अपने सेव्यस्वरूप के बारे में भक्त की भावना तो यही होती है कि वह साक्षात् श्रीकृष्ण ही है. अन्यथा उसकी भक्ति में कही-कुछ गड़बड़ है, श्रीकृष्णदर्शन की तीव्र लालसा के कारण चलनेवाले भगवत्स्मरण तथा भगवद्भजन का निभना भक्त की मुक्ति है. अन्यथा किसी भी प्रकार की मुक्ति पुष्टिभक्त के लिए अपनी भक्ति में आ पड़ी कुछ न बाधा ही है. महाप्रभु अतएव कहते हैं: 'स्मरणं' भजनं चापि न त्याज्यम् इति में मति:'.

भक्ति का विकास

भक्ति का जो बीजभाव हमारी आत्मा में निहित होता है उसका सेवा-कथा अर्थात् भजन स्मरण द्वारा ऐसा विकास होना चाहिये कि वह प्रेम तथा आसक्ति में अंकुरित, पल्लवित होता हुआ व्यसन अवस्था में पुष्पित हो जाये. भक्तिवर्धिनी नामक ग्रन्थ में महाप्रभु ने यह समझाया है कि भक्ति का बीजभाव जो हमारी जीवात्मा के भीतर बोया गया है वह वहीं सुषुप्त ही केवल न रह जाये. एतदर्थ उसे कुछ अनुकूल वातावरण प्रदान करने की अपेक्षा रहती है.

जैसे बीज बोने से पहले किसी क्यारी को साफ करना पड़ता है. सूखी घास यदि उगी हुई हों तो उन्हें जलाना पड़ता है. क्यारी के चारों ओर काँटों की बाढ़ बांधनी पड़ती है, ताकि जानवर उसे तहस-नहस न कर दें. वहां जमी हुई मिट्टी की कठोर परतों को कुरेद कर या जोत कर नरम बनाना पड़ता है. कुछ खाद भी डालनी पड़ती है. बरसाती जल से सींचना हो तो बरसात पड़ने के समय का अनुमान भी लगाना पड़ता है. अन्यथा कुएँ या नहर के जल से सींचने के कुछ उपाय भी तैयार रखने पड़ते हैं तब जाकर बीज अंकुरित हो पाता है. अंकुरित होने के बाद भी कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी उसे नष्ट न कर दें इसकी निगरानी रखनी पड़ती है. तब कहीं जाकर बीज के बोये जाने का फल मिल पाता है.

इसी तरह भगवद्भाव को खण्डित करनेवाले व्यक्तियों तथा साहित्य के दु:संग से बचना हमारी भक्तिमार्गीय प्रथम आवश्यकता है.

अंशी परमात्मा से बिछुड़े अंशरूप जीवात्मा पर चढ़ी भगवद्विस्मृति की कठोर परतों को पैने माहात्म्यज्ञान से कुरेद कर कुछ नरम बनाना भी आवश्यक है.

परमात्मा के प्रति आत्मसमर्पण अर्थात् ब्रह्म सम्बन्ध की खाद डालकर हमारी हृदयभूमि की उर्वराशक्ति को बढ़ाना भी आवश्यक है.

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्यं तथा आत्मनिवेदन रूप नवधा

भक्ति से सिंचन भी आवश्यक है.

तब जाकर परमात्मा द्वारा बोया गया भक्ति का बीजभाव अंकुरित हो पाता है. महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि बीजभाव को दृढ़ करना हो तो अपने घर में रह कर तत्तद् देहादि अभिमानों को लक्ष्य में रखकर शास्त्रद्वारा विहित स्वधर्मों को निभाते हुए; तथा अव्यावृत्त होकर भगवान के पूजन श्रवण आदि में तत्पर होना चाहिये: 'बीजदार्ढ्य प्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मत: अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभि:'

'अव्यावृत्त' यानि अनन्यभाव से

भक्ति की साधना में अनन्यभाव प्राणरूप होता है. योग साधना में जैसे चित्त की एकाग्रता के बिना कुछ भी सम्भव नहीं. वैसे ही भक्ति साधना में अनन्यभाव के बिना कुछ भी अर्थ भक्ति का रह नहीं जाता है.

एक मेस्मेरीजम् के अभ्यास में कितनी अधिक दृष्टि की एकाग्रता साधनी पड़ती है. वह भी केवल किसी एक क्षुद्र बिंदु पर टिकानी पड़ती है! तब मेस्मेरीजम् सिद्ध होता है. ऐसी स्थिति में भक्ति जैसी गरिमामयी साधना भाव की एकाग्रता के बिना सिद्ध हो जायेगी ऐसा मानना बड़ी भयंकर भूल है! भक्ति के बीजभाव के अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होने की पहली शर्त है भावकी एकाग्रता अर्थात् अनन्यभाव गीता में, अतएव भगवान् ने प्रतिपद पर भक्ति में अनन्यभाव की महत्ता का उपदेश दिया है:

अभ्यायोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना (८/८)
अनन्यचेता: सततं यो मां स्मरति नित्यश: (८/१४)
पुरुष: स पर: पार्थ भक्त्यालभ्यस्त्वनन्यया (८/२२)
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूत्वादमिव्ययम् (९/१३)
अनन्याश्चिंयंतो मां ये जना: पर्युपासते (९/२२)
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् (९/३०)
भक्त्यात्वनन्या शक्य: अहमेवंविधोर्जुन: (११/५४)
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते (१२/६)
मयि चानन्ययोगेन भक्ति रव्यभिचारिणी (१३/१०)

इस लम्बी सूची से सिद्ध होता है कि गीता के उपदेष्टा को अनन्यभाव की कितनी अधिक आवश्यकता भक्ति में प्रतीत होती है?

अनन्यभाव तब हमारा खण्डित होता है जब हम देवतान्तर, मार्गान्तर, साधनान्तर अथवा फलान्तर की कामनाओं से अपने भक्तिभाव को मिश्रित कर के दूषित बना देते हैं.

कर्ममार्गीय साधना में शास्त्रविधि के अनुसार जब जहाँ जिस देवता का जैसे पूजन-यजन कहा गया है. तदनुसार, कर्म न करने पर वह कर्म विगुण हो जाता है. क्योंकि कर्ममार्गीय साधना किसी देवविशेष से बँध कर चलने वाली साधना नहीं है. कर्ममार्गीय साधना में शास्त्रविहित स्वकर्म में निष्ठा की महत्ता है. अत: शास्त्रविहित प्रत्येक देवता का यजन-पूजन वहाँ अनिवार्य है. ज्ञानमार्गीय साधना में प्रमुखता साकार देवताओं की उपासना की उतनी नहीं जितनी कि निराकार अक्षरब्रह्म के श्रवण-मनन-निदिध्यासन की है. यही कारण है कि सच्चा शिवभक्त परमात्मा को शिवाकार मानता है. जैसे सच्चा विष्णुभक्त परमात्मा के विष्णु-आकार को अपना परम आराध्य मानता है.

वैष्णव विष्णु को परमतत्त्व इसलिये नहीं मानते कि शैवों ने, क्योंकि शिव को परमतत्त्व के रूप में मान्य किया है. इसी तरह सच्चे शैव शिव को परमतत्त्व इसलिये नहीं मानते कि क्योंकि वैष्णवों ने विष्णु को परमतत्त्व माना है. परन्तु भक्तिहीन ज्ञानमार्गीय साधक, कभी जब परमतत्त्व शिव है कि विष्णु के झगड़े में उलझता है तो, अपनी निष्ठाहीनता को उजागर कर ही देता है. इसका एक मजेदार उदाहरण हमें अप्पय दीक्षित के निम्न श्लोक में मिलता है:

त्रयाणां देवानां भवतु सममैश्वर्यमथवा
भवत्वेषां मध्ये भवभयहरस्थाणुरधिक:

अर्थ: या तो ब्रह्मा, विष्णु एवम् शिव तीनों की ही ईश्वरता-महत्ता समान माननी चाहिये, अन्यथा इन तीनों के बीच में शिव की महत्ता अधिक है ऐसे कहना चाहिये (!?)

ये उद्गार निष्ठाहीन अर्थात् अनन्यभावरहित ज्ञानमार्गीय साधक के हैं. भक्त चाहे शिव का हो या विष्णु का अपने आराध्य को कभी इसलिये महान् नहीं मानता कि क्योंकि दूसरा आराधक किसी दूसरे रूप को महान् मानता है. हृदय जब अनन्यभाव से रहित (त्रयाणां देवानां भवतु सममैश्वर्यम्' की तरह) होता है, तभी साधक को झगड़ने की सूझती है कि 'अथवा भवत्वेषां मध्ये भवभयहरस्थाणुरधिक:!'

अपने इष्टदेव में अनन्यभाव का तात्पर्य यह कदापि नहीं समझना चाहिये कि हम यदि एक के भक्त बने हैं तो दूसरे का अनादर करने लग जायें! अपने आराध्य की अनन्य भक्तिमयी आराधना करने वाले आराधक का हृदय, भक्ति के प्रेममय स्वभाववश इतना कोमल हो जाना चाहिये कि अन्य देव की बात तो दूर, किसी अन्य प्राणी के प्रति भी अनादर प्रकट न कर पाये. ऐसी कठोरता वहां रह ही नहीं सकती! 'यत्किञ्च भूतं प्रणमेद्दँ अनन्य:' प्रेमी को तो प्रेम की उत्कटतावश सर्वत्र प्रियतम ही दिखलाई देता है. अतएव उसका तो मस्तक झुका हुआ (प्रणत) ही रहता है. फिर भी प्रेमी चाहता है अपने प्रियतम को ही सभी को नहीं! बहुत सूक्ष्म अन्तर होता

है. ज्ञानी के सर्वात्मभान तथा भक्त के सर्वात्मभाव के बीच में! ज्ञान आकार से मुक्ति का मार्ग है परन्तु भक्ति आकार के साथ स्नेह का मार्ग है.

इस सूक्ष्म रहस्य को समझे बिना शुद्धाद्वैत की दुहाई देकर आज इस देवता की तो कल उस देवता की और परसों किसी तीसरे ही देवता की यों नित्यप्रति नये-नये देवताओं की स्तुति-प्रार्थना-व्रत-अर्चना-यात्रा-मानता करने वाले साधक को कभी भक्त मान लेने की भूल नहीं करनी चाहिये. भक्ति यदि अनन्यभाव से रहित है तो फिर वह भक्ति ही नहीं है. वह तो भगती हुई हमारी चंचल चित्त की दिग्भ्रान्त वृत्ति है!

अनेक देवताओं की आराधना करना और फिर शुद्धाद्वैत की दुहाई देना भक्तिमार्ग में आत्मवंचना है. क्योंकि शुद्धाद्वैत को वास्तविक रूप में स्वीकारने पर तो केवल अन्यदेव ही नहीं अपितु जगत की प्रत्येक वस्तु ब्रह्म के ही अनेक रूप हैं. पण्डित वामन गीता की मराठी व्याख्या में एक मजेदार बात कहते हैं.

सर्व देवास आपणास अद्वैत।
सत्य परन्तु मुक्तिप्रद नव्हे अन्यदेवत।
ऐसी बोलसी तू भगवान्त या गीताशास्त्री प्रतीपदी
अता ज्ञान जालियावरी।
तूँची सर्व देवता म्हणूनि जरी।
विघ्नहर देवता प्रार्थू तरी घटपट काय तू नव्हसी?।।

देव-दानव, मानव, पशु, पक्षी, सरीसृप, मत्स्य-कच्छप, कीट, पतंग, वृक्ष, कंकड़, पत्थर सभी कुछ एक ही परमात्मा के अनेक रूप हैं. सब में ब्रह्मभावना भक्ति में सहायक बनती है. फिर भी सब का भजन तो निश्चय ही भक्ति में बाधक बन जाता है. साँस चलना तो जीवन की निशानी है, परन्तु अधिक साँस चलना दमा रोग की भी निशानी हो सकती है! सब में ब्रह्मभावना रखते हुए केवल अपने इष्टदेव के ही भजन का आग्रह भक्ति में अनन्यभाव कहलाता है. अतएव देवतान्तर का भजन गीता में प्रशंसनीय नहीं माना गया है: 'कामैस्तैस्तैर्हृ तज्ञाना: प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता: (७/२०).'

इसी तरह आज भक्तिमार्गीय उपायों का प्रयोग-परीक्षण करना, कल कर्ममार्गीय उपायों का और परसों ज्ञानमार्गीय उपायों का, यह साधनान्तर है, जो हमारे अनन्यभाव को खण्डित करता है. इसी तरह आज वैदिक, शैव या वैष्णव धर्म, कल जैन-बौद्धादि और परसों यहुदी ईसाई-मुसलमानों का धर्म, कुछ दिनों बाद वन्य जातियों के जादू-टोनावाले कर्मकाण्ड को भी अपना लेना यह मार्गान्तर भी अनन्यभाव को खण्डित करता है. भगवान गीता में कहते हैं: 'श्रेयान्

स्वधर्मो विगुण: परधर्मास्त्वनुष्ठितात् (१८/४७).' परधर्म का भलीभाँति अनुष्ठान स्वधर्म के विगुण-अनुष्ठान से अधिक श्रेष्ठ नहीं होता. प्रत्युत विगुण होने पर भी स्वधर्मानुष्ठान श्रेयस्कर होता है.

आजकल, परन्तु, तथाकथित खुले दिमाग के लोग स्वधर्म के बन्धन में फंसना बेवकूफी समझते हैं : इनकी आत्मवंचना को चित्रित करनेवाला एक रोचक श्लोक मिलता है:

श्रोतव्य: सौगतो धर्म:
मन्तव्य: पुनरार्हत।
वैदिको व्यवहर्तव्य:।
ध्यातव्य: परम: शिव:।।

अर्थ: सुनो धर्मोपदेश सुगत बुद्ध का, मनन करो जैनों के धर्मोपदेशों का, व्यवहार में अपनाओ वैदिक धर्म को और ध्यान धरो परम शिव का!

यह तो धर्मानुष्ठान नहीं है केवल खिलवाड़ है मूर्ख लोग आत्मवंचनार्थ ऐसा करते हैं और धूर्त लोग जगवंचनार्थ ऐसा करते हैं! भक्तिमार्ग में यह मनोवृत्ति अनन्यभाव को नष्ट कर देती है.

इसी तरह फलान्तर की कामना के वश भी भक्तिमार्गीय अनन्यभाव खण्डित होता है. अपनी भक्ति के फलरूपेण, और भी अधिक दृढ़तर भक्ति की ही केवल कामना हो, तब तो भक्ति अनन्यभावात्मि का है ऐसा समझना चाहिये. अन्यथा अपनी भक्ति के द्वारा किसी तुच्छ लौकिक फल, धन, यश, मान, पदवी, संतति, विजय आदि की कामना भक्ति में फलान्तर है, न केवल लौकिक कामना ही अपितु अलौकिक ज्ञान या मुक्ति इत्यादि की कामना भी भक्ति में फलान्तर है जो अनन्यभाव को नष्ट करती है. भक्ति का फल भक्ति के अलावा ज्ञान या मुक्ति या अन्य कुछ भी माना कि भक्ति समाप्त हो गई मान लेनी चाहिये.

इन देवतान्तर, साधनान्तर, मार्गान्तर या फलान्तर की कामनाओं से जिसका हृदय घिरा हुआ न हो अर्थात् व्यावृत्त न हो ऐसे अव्यावृत्त भक्त को तो भगवत्सेवा और भगवत्कथा दोनों में तत्पर रहना चाहिये. 'अव्यावृत्त' का अर्थ विरक्त नहीं है. यह सहज सम्भव है कि भक्त के भीतर प्रारम्भ में भगवदनुरक्ति के साथ ही न्युनाधिकतया लौकिक विषयों की अनुरक्ति या कामना भी रह सकती है. किसी भी सूरत में, किन्तु, सच्चा भक्त अपनी भगवदभक्ति के द्वारा अपनी लौकिकी कामनाओं की पूर्ति करना नहीं चाहेगा. यही अर्थ होता है अव्यावृत्त होकर भक्ति करने का. परन्तु जो अव्यावृत्त अर्थात् अनन्यभावयुक्त नहीं हो पाते उन्हें सहसा स्वरूपसेवा शुरू नहीं कर देनी चाहिये. भगवत्कथा द्वारा अपने-आपको पहले अव्यावृत्त बनाना चाहिये. महाप्रभु का दृढ़ आश्वासन प्रत्येक पुष्टिभक्त के लिये है ही कि जिनसे भगवत्सेवा तथा भगवत्कथा दोनों ही निभती

हो; अथवा दो में से एक भी जिनसे निभती हो तो फिर चिन्ता उन्हें नहीं करनी चाहिये, क्योंकि तब भक्ति का बीजभाव एक न एक दिन दृढ़ होगा ही. अर्थात् बीज कभी न कभी अंकुरित होगा ही.

(क) लौकिक रति (ख) भगवद्रति तथा (ग) भक्ति का अन्तर

(क) जैसा कि विस्तृत विवेचन द्वारा हम समझ ही चुके हैं कि 'भक्ति' का अर्थ होता है: अंश जीवात्मा का अंशी परमात्मा के प्रति सहज आकर्षण. अपनी रति के वास्तविक आलम्बन के रूप में परमात्मा को न पहचानने के कारण यह प्रबल आकर्षण अन्यान्य लौकिक विषयों की रति के रूप में विकृत हो जाता है, अपनी क्षुद्र संतुष्टि के लिये. इस अर्थ में लौकिक विषयों में हमारी जो रति है वह अपने मूल रूप में तो निर्दुष्ट परमात्मरति ही है. फिरभी लौकिक रति की शास्त्र में जो निन्दा हुई है, वह रति के मूलरूप को लेकर नहीं, किन्तु उसके विषय को दृष्टिगत रखते हुए ही हुई है.

निर्दुष्ट क्रिया भी बहुधा दोषपूर्ण प्रयोजन या दोषपूर्ण विषय के कारण दोषघटित बन जाती है. सत्यभाषण अपने आप में दोषरहित होने पर भी बहुधा रागद्वेषवशात् सच बोलने वाले के मुख में दोषपूर्ण बन जाता है. दया एक उत्तम मनोभाव होने पर भी दयाके पात्र से स्वार्थ सिद्धि के प्रयोजन से दूषित होने पर वह प्रशंसनीय नहीं रह जाता. एकही तू तुकार से अपने मित्र का सम्बोधन स्नेह को व्यक्त कर सकता है, किन्तु आदरणीय गुरुजन के प्रति अनादर को भी व्यक्त कर सकता है. इसी तरह परमात्मा के बारे में रति सर्वथा दोषरहित एक श्रेष्ठतम उपलब्धि होने पर भी लौकिक क्षुद्र विषयों के बारे में होने पर वह दोषरहित नहीं रह जाती है.

रसशास्त्रकारों ने लौकिक रति की विवेचना करते हुए उसकी दस अवस्थाओं की विवेचना की है:

चक्षुरागः किसी वस्तु या व्यक्ति को देखते-सुनते ही उसके लिये लालायित हो जाना चक्षुराग है. आँखों का कहीं बरबस आकृष्ट हो जाना चक्षुराग है.

मनःसंगः किसी को देख या सुन लेने के बाद हमारे मन का निरन्तर उसी की कल्पना में डूबे रहना.

संकल्पः मनमोहक वस्तु की ओर जब मन निरन्तर दौड़ता है तो मन में उसे पाने के अनेक संकल्प भी पैदा होते हैं.

जागरणः मन में उठते संकल्प-विकल्प उस मोहित व्यक्ति की निद्रा के नाशक बन जाते हैं.

तनुताः निद्रा के नाश के बाद उसका प्रभाव शरीर पर पड़ता है. शरीर कृश होने लगता है.

विषयद्वेषः शारीरिक कृशता का प्रभाव पुनः मन पर पड़ता है, और प्रेमी चिड़चिड़ा हो जाता है, उसे अपनी प्रियतम वस्तु के अलावा अन्य कुछ भी सुहाना बन्द हो जाता है.

लज्जात्यागः विषयद्वेष के बाद अगला कदम, स्नेही का लज्जा को त्याग देने की ओर होता है.

उन्मादः लज्जा त्यागने के बाद सामाजिक व्यवहार निभना बन्द हो जाता है, परिणामस्वरूप व्यक्ति समाज में उन्मत्त की तरह माना तथा परेशान किया जाने लगता है.

मूर्च्छाः ऐसा प्रेमोन्मत व्यक्ति कभी मूर्च्छित भी हो सकता है.

मरणः प्रेम जब उन्माद और मूर्च्छा के आवर्तन में घिर जाता है तब प्रेमी की मृत्यु भी हो सकती है।

ये दस अवस्थायें स्नेह की रसशास्त्रकारों ने गिनायी हैं. इसके कारण कुछ लोगों ने एक मिथ्या धारणा बना ली है कि स्नेह की वृद्धि के दस सोपान नियत हैं. मानों प्रेमी जब तक मर न जाय तब तक उसके प्रेम में पूर्णता न आती हो! अतएव हम देख सकते हैं कि प्रेमी को मार या मरवा देने की एक निश्चित योजना के अनुरूप इन सोपान में प्रेम के प्रारम्भ से ही प्रेमी और प्रियतम को पृथक् कर दिया गया है! चक्षुराग के बाद प्रियतम संगम की चर्चा किये बिना सीधे मनःसंग, संकल्प, जागरण और कृशता की ओर प्रेमी को ढकेल दिया गया है! प्रेम की ये उत्तरोत्तर अवस्थायें वियोग में घटित हो सकती हैं। प्रेमी और प्रियतम के संयोग में भी, किन्तु, प्रेम का विकास उत्तरोत्तर वृद्धिगत हो सकता है कि नहीं?

वैसे लौकिक रति करने वाले का तथा लौकिक रति के आलम्बन का भी कभी न कभी मरण तो निश्चित है ही: 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' अतः रसशास्त्रकारों की विवेचना ठीक ही है कि स्नेही का अन्त मरण है परन्तु क्या इसे 'स्नेह की नियति' कहा जा सकता है?

(ख) लौकिक रति की इस रसशास्त्रीय विवेचना के आधार पर परमात्मरति की विवेचना करना कथमपि युक्तिसंगत नहीं. क्योंकि भक्त के देह रहने या न रहने की सीमा में परमात्मरति की स्थिति या समाप्ति सम्भव नहीं है. भक्ति के बीजभाव से सम्पन्न जीवात्मा अनेक जन्मों में निरन्तर नये-नये देहों को धारण करते हुए एकमात्र परमात्मा को ही अपनी रति का आलम्बन बना सकती है. अतः मरण जिस तरह लौकिक रति को करुण रस में रूपान्तरित कर सकता है, उस तरह परमात्मरति को नहीं, क्योंकि परमात्मा से जोड़ा गया प्रेम क्षणभंगुर देह की मर्यादा को लाँघ जाता है.

अवतारकाल में जब भगवान की लीला भूतल पर प्रकट चलती है तब भी, उदाहरणतया, रामावतार के अथवा कृष्णावतार के समय कुछ जीवात्मा भगवन्माहात्म्य को जाने बिना ही भगवान् राम और भगवान् कृष्ण के स्वरूप तथा लीलाओं में आकृष्ट हो गई थी. इन भगवत्प्रेमियों को भगवान की विविध प्रकार की लीलाओं के कारण यद्यपि भगवद्वियोग की अनुभूति हुई थी.

उस भगवद्वियोग में कुछ भगवत्प्रेमियों ने देहत्याग भी किया होगा. परन्तु शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार उन्हें दिव्य भगवद्धामों में पुनः भगवत्स्वरूपानुभूति तथा लीलानुभूति के रूप में शाश्वत संयोगसुख मिला ही था. अतएव भगवद्रति का कभी भी करुण रस में पर्यवसान नहीं होता, लौकिक रति की तरह. अतएव श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरण ने व्रजगोपिकाओं की श्रीकृष्ण-रति के मृत्युवर्जित सात सोपान दिखलाये हैं:

(१) भावैरंकुरितं महीमृगदृशांमाकल्पमासिंचितम् (२) प्रेम्णा कन्दलितं
(३) मनोरथमयैः शाखाशतैः संभृतम् (४) लौल्यैः पल्लवितं
(५) मुदा कुसुमितं (६) प्रत्याशया पुष्पितम (७) लीलाभिः फलितं भजे
व्रजवनीशृंगारकल्पद्रुमम।।

इस श्लोक में वर्णित भाव, प्रेम, मनोरथ, लौल्य, मोद, प्रत्याशा और लीला को भगवद्रति के बीज भाव में से अंकुर, कन्दल, शाखा, पल्लव, कलिका, प्रसून और फल रूप सप्तविध अवस्थाओं के विकास के रूप में वर्णित किया गया है. श्रीकृष्ण को 'व्रजवनी का शृंगार कल्पद्रुम' कहने का तात्पर्य यही है कि श्रीकृष्ण के बारे में श्रीकृष्णानुरागियों के मनोरथ कभी अपूर्ण नहीं रहेंगे. यहाँ अवधेय है कि भगवद्रति की फलावस्था के रूप में भगवल्लीला को स्थापित किया गया है. व्यापिवैकुण्ठ में भगवल्लीला को नित्य माना गया है. अर्थात् भगवल्लीला सर्वत्र-सर्वदा चल ही रही है. भगवत्कृपावश किसी को अनुभूत होती है, और किसी को नहीं भी. अतएव जिस जीवात्मा का वरण परमात्मा अपनी लीला में कर लेता है, वह जीवात्मा देश-काल की सीमाओं से ऊपर उठ कर भगवदनुरक्ति कर पाती है. अतः भगवद्रति की विकास रेखा में मृत्यु का कोई स्थान नहीं है, लौकिक रति की तरह, यदि मृत्यु अनुभूत होती है तो वह भी एक लीला ही मानी गई है, जिस से आसुरी जीवों को तो व्यामोह होता है, परन्तु दैवी जीवों को कभी नहीं.

इस तरह भगवद्रति का स्वरूप समझ लेने के बाद अब भगवद्-भक्ति का विलक्षण स्वरूप भी समझ लेना चाहिये.

(ग) जीव के कर्म, ज्ञान या भक्ति आदि साधनों की मर्यादा का विचार किये बिना, जब भगवान् स्वतएव अनुग्रहवश प्रकट हो जाते हैं, तो भगवान् के उस प्रकट स्वरूप में और उन लीलाओं में, जीव की सहज रति अवश्यतया सिद्ध हो जाती है. वह जीव भगवान् के माहात्म्य को जाने बिना ही भगवान् के प्रकट स्वरूपसौन्दर्य, गुणमाधुर्य एवम् लीलालावण्य पर आकृष्ट हो जाता है. भगवान् के प्रकट रूप की मनोहारिता ऐसी होती है कि किसी को उनके माहात्म्य को जानने की गरज ही नहीं रह जाती है. यह प्रकार भगवत्स्वरूप के प्राकट्य से स्नेह प्राकट्य का है. इसे 'प्रमेयबल' कहा गया है.

दूसरा प्रकार एक यह भी संभव है कि जीवात्मा के भीतर परमात्मा के माहात्म्यज्ञान के कारण

परमात्मा के प्रति स्नेह प्रकट हो पाये ऐसी स्थिति में माहात्म्यज्ञानपूर्वक प्रकट हुई भगवद्रति को 'भक्ति' कहा जाता है : 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः स्नेहो भक्ति रिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा.' सामान्यतया भगवान् जब स्वतः प्रकट नहीं होते तब पहले लौकिक विषयासक्ति के बंधनों से छूटकर भगवद्भिमुख हो पाने के लिये भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान अपेक्षित होता है. परमात्मा का माहात्म्य अर्थात् महत्ता क्या है कि उससे स्नेह करना चाहिये? भगवान से स्नेह सम्बन्ध बाँध पाने की क्या महत्ता है? इन प्रश्नों के उत्तर शास्त्रों में जीवात्मा खोज पाती है उन्हें पढ़कर अथवा सुनकर.

इस माहात्म्य की पहचान के बाद जब भगवद्रति प्रकट होती है तो उसे 'भक्ति' कहा जाता है.

इस भक्ति की साधना सर्वप्रथम जब बीजभाव के कारण होती है तो वह भक्तिमार्ग में धर्म पुरुषार्थ की सिद्धि है. इस अवस्था में आत्मनिवेदन पूर्वक अपने निजगृह में निज तन-धन एवम् पारिवारिकजनों का भगवत्सेवा में विनियोगमात्र हो पाता है, व्रजभक्तों के भावों की भावना करते हुए.

द्वितीय सोपन पर उल्लिखित रीति से भगवत्सेवा करने वाले के भीतर जब अपने सेव्य स्वरूप के लिये प्रेम प्रकट होता है तो उसे स्वधर्माचरण से जो धन अर्जित हो सकता था वह प्राप्त हो गया यों समझ लेना चाहिये. भगवान में प्रेम प्रकट होने के बाद कुछ निश्चितता आ जाती है. भक्ति का बीजभाव प्रेमात्मना अंकुरित हो गया तो भक्तिमार्गीय दृष्टि से जीवात्मा समृद्धिशाली बन गई उसके अर्थपुरुषार्थ की सिद्धि हो गई समझ लेनी चाहिये. क्योंकि अब वह भगवत्सेवा केवल धर्मबुद्धि से नहीं अपितु प्रेमवश भी कर पायेगा.

तृतीय सोपान पर, भगवत्प्रेमवश भगवत्सेवा कर पाने पर, सेवा के अनवसर में अब भक्त का हृदय अपने सेव्यस्वरूप को भूल नहीं जायेगा. उसे अपने सेव्यस्वरूप के दर्शन की कामना बनी ही रहेगी. जब बीज भाव इस तरह पल्लवित हो जाये तो भक्तिमार्गीय कामपुरुषार्थ की सिद्धि हो गई यह समझ लेना चाहिये. अब भक्त केवल प्रेमवश नहीं किन्तु कुछ और आगे बढ़ कर आसक्तिवश भगवत्सेवा और भगवत्कथा को निरन्तर करते रहने को सक्षम हो जाता है.

चतुर्थ सोपान पर आसक्तिवश की जाती भगवत्सेवा और भगवत्कथा का अब भक्त को शनैः शनैः व्यसन-सा होने लग जाता है. वह अब सेवा कथा के बिना रह ही नहीं पाता! तब इस अवस्था को, महाप्रभु, भक्तिमार्गीय दृष्टि से भक्त के मोक्षपुरुषार्थ की सिद्धि बताते हैं. भक्तिमार्ग में मुक्त जीवात्मा परमात्मा में लीन नहीं हो जाती परन्तु इतनी तल्लीन हो जाती है कि उससे भगवत्सेवा या भगवत्कथा के बिना एक क्षण भी रहा नहीं जा सकता.

इस अवस्था के प्रकट होने पर भक्त कृतार्थ हो जाता है. उसके भीतर एक ऐसी अलौकिक सामर्थ्य प्रकट हो जाती है कि वह अपने सेव्य स्वरूप के साथ संलाप कर सकता है. उनके आन्तर एवम्

बाह्य दर्शन कर सकता है. उसे सर्वात्मभाव सिद्ध हो जाता है. ऐसे भक्त की भौतिक देह छूटने पर वह भगवान् की नित्यलीला में प्रविष्ट हो जाता है. और वहाँ भी भक्त को उसके मनोरथों के अनुरूप भगवल्लीला में भगवत्सेवा का सुख भी मिलता ही है. अतएव मृत्यु से कोई विशेष अन्तर भक्त को नहीं पड़ता. भक्ति की विकास रेखा में अत: कहीं भी मृत्युबिन्दु का कोई उल्लेखनीय स्थान नहीं है, लौकिक रति की तरह.

जैसे हम प्रतिदिन निश्चिंत होकर सोने जाते हैं उसी तरह मृत्यु को भी भगवद् भक्त उसी निश्चिंतता से स्वीकार पाता है : 'स्वस्थ: शेते मृत्युरस्मादपैति.'

भगवत्प्राकट्य से भगवद्रति के प्राकट्य का क्रम

भगवत्प्राकट्य, भाव, प्रेम, मनोरथ लौल्य (उत्कण्ठा), मोद, प्रत्याशा, लीला, भगवत्तिरोधान, विरह, सर्वात्मभाव (माहात्म्यज्ञान) तथा नित्यलीला प्रवेश के साथ पुन: दिव्य देहादि की प्राप्ति और भगवत्सेवा कथा का शाश्वत् सुख. यह क्रम है भगवत्प्राकट्य के कारण प्रकट होती भगवद्रति के उत्तरोत्तर सोपानों का. हमने कहा है कि इसे भगवान का प्रमेयबल से प्राकट्य कहा जाता है. अतएव इस भगवद्रति का प्राकट्य भी प्रमेयबल से ही माना गया है. इसकी साधनावस्था और फलावस्थाओं के भेद भी प्रमेयबल अर्थात् शास्त्रनिर्धारित क्रम से स्वतन्त्र तथा केवल भगवदिच्छा पर ही निर्भर होते हैं.

भगवद्भक्ति से भगवत्प्राकट्य का क्रम

बीजभाव, सत्संग, माहात्म्यज्ञान, बीजभावदार्ढ्य (रुचि), प्रेम, आसक्ति, व्यसन (मानसी / तनुनवत्व), सर्वात्मभाव, भगवत्प्राकट्य, भगवत्तिरोधान, लौकिक देहत्याग, भगवत्स्वरूप में लय अर्थात् सायुज्य; अथवा नित्यलीलाप्रवेश अर्थात् व्यपिवैकुण्ठरूप दिव्य भगवद्धाम में चलती शाश्वत लीलाओं में प्रवेश तथा नूतन दिव्य देह द्वारा पुन: भगवत्सेवासुख की शाश्वत उपलब्धि. यह भक्ति शास्त्र द्वारा निर्धारित क्रम होने से प्रमाणबल कहा जाता है.

हमने देखा कि दोनों ही क्रमों में भक्ति का फल भक्ति ही मिलता है. भक्त जीवात्मा की सांसारिता में भी और मुक्ति में भी.

भक्ति का फल जब भी भक्ति के अलावा अन्य कुछ भी सोचा तो बड़ी गड़बड़ी फैल जाती है. अपनी भक्ति से भावित अपने आराध्य की सार्वजनिक विविध झांकियों-प्रदर्शनों द्वारा धनसंचय अथवा धनिकों से परिचयसंचय का प्रकार जितना जघन्य है उतना ही जघन्य प्रकार भक्ति से, अभक्तिमयी मुक्ति या अभक्तिमय ब्रह्मसाक्षात्कार को फल के रूप में स्वीकारना है. भक्ति का फल न तो लौकिक यश, न धन, न सुख, न ज्ञान और न मोक्ष ही हो सकता है. भक्ति का फल भक्ति न हो तो भक्ति भी भक्ति नहीं किन्तु भगति है!

अतएव महाप्रभु भक्तिमार्गीय मुक्ति का स्वरूप इन्हीं शब्दों में समझाते हैं. 'स्मरणं भजनं

चापि न त्याज्यम्.'

सेवा-कथा और केवल कथा

एक स्पष्टीकरण यहाँ अब आवश्यक है. वह यह कि भगवान के प्रमेयबल से स्वत: प्राकट्य के काल में व्रज की जिन गोपिकाओं की भगवद्रति सर्वात्मभाव से समृद्ध न हो पाई उन्हें अन्त में ज्ञानियों की तरह भगवत्सायुज्य ही मिला था. यही अन्तर दिखलाया गया है-- केवल कामभाव वाली गोपिका तथा सर्वात्मभाववाली गोपिकाओं के बीच. यह प्रसंग रासपंचाध्यायी में आता है. वहाँ कामभाववाली गोपिकायें रासलीला में सम्मिलित न हो पाई थीं और परिणामत: तीव्र वियोग में उनके भौतिक देह छूट गये और उन्हें भगवत्सायुज्य ही केवल मिला था. ऐसा उल्लेख मिलता है. जैसे द्वेष करने वाले कंसादि दानवों के चित्त भी भगवान में योगिजन दुर्लभ एकाग्रता से सम्पन्न हो पाये और फलत: उन्हें भी भगवत्सायुज्य मिला था. वह एकाग्रता न तो निरुपाधिक ज्ञानमयी थी और न निरुपाधिक स्नेहमयी ही. अतएव भगवान ने प्रमेयबल से उन्हें सायुज्य प्रदान किया था.

काम, क्रोध, भय, लौकिक, सौहृद अथवा ऐक्यलाभ की लालसावाली उपाधियों से हमारी भगवद्रति घिरी हुई हो तो भगवान अपने प्रमेयबल से हमें सायुज्यदान करते हैं. परन्तु निरुपाधिक स्नेहवश जब चित् भगवदेकतान हो जाता है तो वह कभी न कभी सर्वात्मभाव से समृद्ध बन कर अनन्यभक्ति का रूप भी धारण कर ही लेता है. पूर्ण भक्ति का फल सायुज्यमुक्ति नहीं हो सकता. अत: नित्यलीला में प्रवेश के बाद भक्त को पुन: नूतन दिव्य देह से भगवत्सेवा का सुख मिल सकता है.

लीला के क्रम में कामभाव पर अटक जानेवाली गोपिकाओं को जैसे रासलीला में प्रवेश नहीं मिला, इसी तरह भक्ति के क्रम में भी सेवारहित केवल हरिदिदृक्षारूप कामपुरुषार्थ पर अटक जानेवाले को भी नित्य लीलाप्रवेश से वंचित रहना पड़ता है.

फलत: प्रमेयबल से सायुज्य ही केवल कथापरायणों को मिलता है. इसी तरह केवल सेवापरायणों को भी. परन्तु जो भाग्यशाली भगवदीय सेवा-कथा दोनों को निभा पाते हैं, उनकी पूर्ण भक्ति का फल भक्ति ही रहता है, मुक्ति नहीं. अतएव महाप्रभु कहते हैं : 'स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम्.'

भगवत्सेवा का अवसर भगवत्संयोग है और अनवसर भगवद्वियोग है

गाय जैसे पहले घास चरती है और फिर जुगाली करती है, वैसे ही भक्त भी पहले भगवल्लीला या भगवत्सेवा का रसास्वादन करता है और फिर उस रस का रोमन्थ. यह वह सेवा के अनवसर में भगवत्कथा के श्रवण-कीर्तन-स्मरण के समय करता है. जब लीला रसानुभूति अथवा सेवारसानुभूति हमारी चेतना की ऐसी गहराइयों में जाकर चुभ जाये कि उसकी मधुर पीड़ा हमें

निरन्तर होती रहे तभी यह सम्भव है.

रसशास्त्र में, जैसा कि हम देख चुके हैं. रति के दो पक्ष दिखालाये गये हैं : संयोग और वियोग. प्रेमी और प्रियतम के संयोग में रति नितनई अनुभूतियों की प्राप्ति की उत्कण्ठा में उलझी रहती है. तब स्नेहमय सम्बन्धों की गहराइयों में उतरने का अवसर मिल ही नहीं पाता. साक्षात् अनुभूति से वंचित होने के कारण वियोग में रति को स्मृतियों का सहारा लेकर स्थित होना पड़ता है. और तब उसे स्नेहमय सम्बन्धों की गहराइयों में डुबकी लगाने का अवसर मिल पाता है.

सागर की लहरों में हिलोरे लेने का, समुद्रस्नान के शौकीनों को, एक अलग ही सुख मिलता है. इसी तरह सागर में गोताखोरी के शौकीनों को गोते लगाने का भी एक अलग ही सुख मिलता है. रति के सागर में भी, संयोग के समय, नितनई उभरती अनुभूतियों की लहरों में हिलोरे लेने का एक विलक्षण सुख मिलता है. इसी तरह रति के सागर में, वियोग के समय, उसकी गहराइयों में डुबकी लगाने का भी एक विलक्षण सुख होता है.

सेवा का अवसर भक्त के लिए भगवत्संयोगानुभूति का अवसर है. वह भक्तिमयी अनुभूतियों की हिलोरों के सुख लेने का अवसर है. इसी तरह सेवा का अनवसर भगवत्कथा के श्रवण-कीर्तन-स्मरण की गहराइयों में डुबकी लगाने का अवसर है.

मधुर स्वरों में गुँथे एक भावपूर्ण गीत को पहली बार सुनते समय हमारा ध्यान उस गीत के नये-नये शब्दविन्यास तथा स्वरविन्यास की अनुभूतियों में उलझा हुआ रहता है. बाद में कभी परन्तु उस गीत की सर्वाधिक मनपसन्द कड़ी को एकान्त में गुनगुनाने का अवसर कैसी तन्मयता लिये हुए होता है!

इसी तरह भगवत्सेवा और भगवत्कथा दोनों जब निभने लग जाये तो समझ लेना चाहिये कि भक्ति पूर्णतया सिद्ध हो गई है.

भक्ति की यह पूर्णता, भक्ति का चरमविकास होने पर ही सम्भव है, अर्थात् प्रारम्भ में सम्भव नहीं, ऐसी भ्रान्ति मन में से सर्वथा निकाल देनी चाहिये. भक्ति की सर्वथा प्राथमिक कक्षा अर्थात् अदृढ़ बीजभाववाली अवस्था में भी वह सम्भव है और अति उच्च्व व्यसन एवम् मानसी सेवा की दशा में भी वह सम्भव है. जब दोनों सम्भव न हों तो भक्ति को अपूर्ण समझना चाहिये. साधनदशा में भी और फलदशा में भी अतएव महाप्रभु कहते हैं: 'स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम्.'

संसारी, मुमुक्षु और भक्त

संसारासक्त जीव अपने देह, इन्द्रिय और अन्त:करण को आधिभौतिक सुखों की खोज में भटकता

हुआ रखना चाहता है. उसे अपनी आत्मा की चिन्ता सताती नहीं और न आध्यात्मिक सुख की ही.

संसार में विरक्त जीव मुमुक्षु बन कर केवल आत्महित का ही विचार करता है, अर्थात् आध्यात्मिक सुख का ही. आधिभौतिक सुख उसे मुलत: दुखरूप लगते हैं. क्योंकि देह, इन्द्रिय एवम अन्त:करण को वह अपनी आत्मा पर चढ़े हुए हेय आवरण की तरह गिनता है.

भक्त को तो न संसार में अपनी आसक्ति से कोई भय और न संसार से विरक्ति की ही कोई बड़ी योजना उसके मस्तिष्क में रहती है. भक्त तो भगवदनुरक्ति में तल्लीन रहना चाहता है. अत: न वह आधिभौतिकता और न आध्यात्मिकता के ही बारे में किसी तरह की एकांगी मनोवृत्ति रखता है. वह तो अपने भजनीय परमात्मा की आधिदैविक अनुरक्ति में ही तल्लीन होना चाहते हैं.

अपनी इस कृष्णदर्शन लालसा के वश, जब भक्त भगवत्सेवा भगवत्कथामय जीवनयापन करता है, तो वह अपना सभी कुछ कृष्ण को समर्पित कर देता है - देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्त:करण, धन, गृह, परिवार तथा आप्तजन आदि सभी कुछ साथ ही साथ इन देह-इन्द्रियादि के विषय रूप-रस-गन्ध-स्पर्श आदि से जन्य सुख भी वह अपने सेव्य को समर्पित कर देता है. वह इन्द्रिय के विषयों का उपभोग न तो स्वार्थबुद्धि से करता है और न अपरिहार्य हेयबुद्धि से ही किन्तु भगवत्समर्पित भगवत्प्रसाद के रूप में ही वह उन्हें शिरोधार्य करता है. अतएव महाप्रभु ने निबन्ध में कहा है: सर्वेन्द्रियैस्तथा चान्त:करणैरात्मनापि हि ब्रह्मभावात भक्तानां गृह एव विशिष्यते. अत: भक्त का भक्ति से मिलता सुख केवल आत्मना न हो कर सर्वात्मना होता है. महाप्रभु अतएव कह रहे है: 'अत: सर्वात्मना... स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम्.'

शब्द

श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध में वर्णित व्रजभक्तों की फलानुभूति का वर्णन करते हुए उपसंहार में महाप्रभु ने एक बात कही है:

ज्ञानं तु गुणज्ञानं परोक्षे तत्प्रतिष्ठितम।
प्रत्यक्षे भजनं श्रेष्ठं एवं चेदरोधनं स्थिरम।।
पुरुषाणां तथा स्त्रीणां रात्रौ च दिवसे तथा।
ज्ञानं भक्ति श्च सततं चक्रवत्परिवर्तते।।

भावार्थ: भगवान के परोक्ष अर्थात् असंनिधान में व्रज भक्त भगवान का गुणगान करते थे. यह ज्ञानलीला है. भगवान के प्रत्यक्ष अर्थात् संनिधान में तो भजन-सेवा ही श्रेष्ठ होती है. तभी तो भक्तों का निरोध भगवान में स्थिर रह पाता है. व्रज के पुरुषों को और स्त्रियों को रात-दिन इसी तरह भगवदगुणगान और भगवत्सेवा का चक्र निरन्तर चलता रहता था.

यह चक्र सेवा और स्मरण का चक्र है. यह चक्र संयोग और वियोग का चक्र है. यह चक्र भक्ति और ज्ञान का चक्र. यह सेवा के अवसर तथा अनवसर का चक्र. प्रियतम की अनुभूति तथा स्मृति का चक्र. भगवत्स्नेह के सागर की लहरों में तैरने और गहराइयों में डुबकी लगाने के सुख का चक्र. यह चक्र कभी अपने प्रियतम परमात्मा के स्वरूप को निहारने का तो कभी अपने प्रेम को सँवारने का चक्र है! इस चक्र के शश्वद् निरन्तर चलते रहने पर मुक्ति जैसी तुच्छ उपलब्धि भक्त को कभी लुभा नहीं पाती है. अतएव महाप्रभु कहते हैं: 'अत: शश्वद् स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम्.'

गोकुलेश्वरपादयोः

इस चक्र का इहलोक में चलना भक्त की जीवन्मुक्ति है. इस चक्र का दिव्य भगवद्धामों में चलना भक्त की विदेहमुक्ति है.

वैसे तो परमात्मा अनन्त ब्रह्माण्डों का नायक है, परन्तु कभी वह कृपावश जब हमारे इस भूतल पर स्थित गोकुल का ईश्वर बनना स्वीकार लेता है, तो वह अपने दिव्य धामों को भी अपने स्वरूप के साथ भूतल पर प्रकट कर सकता है. उसका धाम तो व्यापिवैकुण्ठ है. अर्थात् अक्षर ब्रह्म है. जैसे सूर्य साकार पिण्ड होता है परन्तु उसका प्रकाश निराकार तथा चारों ओर फैला हुआ होता है. इसी तरह पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण साकार होते हैं और व्यापिवैकुण्ठरूप अक्षर ब्रह्म निराकार होने पर भी सर्वगत सर्वव्यापी होता है: 'तद् धाम परमं मम.' अत: गोकुलेश्वर के चरणकमलों का भजन और स्मरण हमें हमारे देश-काल के बन्धनों से ऊपर उठा कर परमात्मा की नित्य तथा सर्वव्यापी लीलाओं में प्रविष्ट करा देता है.

भक्त भगवान् के स्वरूप में नहीं, किन्तु उनकी नित्यलीला में प्रविष्ट होना चाहता है. भक्त स्वयम् भगवान् बनना नहीं चाहता, किन्तु भगवदीय बने रहना चाहता है. अत: वह परोक्ष अक्षरब्रह्म की उपासना न करके उस अक्षरधाम में निवास करने वाले अपरोक्ष गोकुलेश्वर की भक्ति करना चाहता है. एक सूफी सन्त ने कहा है:

हाजी वराहेकाबा ओ मन साहिबेदीदार ।
उ खाना हमी जोयद व मन साहि बेखाना ।।

भावार्थ: हज करने वाले यात्री काबा, जो परमात्मा का घर है, उसे खोज रहे हैं, परन्तु मैं तो उस घर के साहिब स्वयम् परमात्मा के दर्शनों के लिये आतुर हूं!

सभी ज्ञानमार्गीय साधक अक्षरोपासना द्वारा अक्षरधाम रूप भवन को खोजते हैं और सभी भक्ति मार्गीय साधक उस अक्षरधाम में निवास करने वाले गोकुलेश्वर को ही खोजते हैं. महाप्रभुने अतएव स्पष्ट कर दिया है: 'अत: गोकुलेश्वरपादयो: स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम्.'

न त्याज्यं ! न त्याज्यं !! न त्याज्यम् !!! इति मे मतिः

जब कभी पुष्टि भक्त के भीतर ऐसे भाव जगें कि गोकुलेश्वर के भजन-स्मरण बिना भी अन्य किसी तरह की साधना से उसका कार्य चल जायेगा तो समझ लेना चाहिये कि या तो वह पुष्टि पथ से भटक गया है अथवा भटकने वाला ही है.

उदाहरणतया-

कुछ लोग कहते हैं कि भक्ति स्वरूपनिरपेक्षा होनी चाहिये.

कुछ लोग कहते हैं कि भगवत्सेवा आज के युग में शक्य नहीं है अत: (केवल) भगवत्कथा में भगवद्वियोग की भावना ही करने में भक्ति खिल सकती है.

कुछ लोग कहते हैं कि स्वयम् महाप्रभु ने ही विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थ में-'कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दु:साध्या' ऐसा विधान किया है, अत: भक्ति का प्रयास निष्प्रयोजन है.

कुछ लोग कहते हैं कि भगवत्स्वरूप की सेवा बहो S S S त (!) ऊंची भक्ति की एम.ए.। कक्षा की बात है. जबकि आज तो किंडरगार्डन के निम्नकक्षा के अधिकारियों के लिये प्रथम कर्तव्य तो मानवसेवा ही है.

कुछ लोग कहते है कि सेवा का कर्मकाण्ड तो अति हीन अधिकारियों के लिये होता है, उन्हें धरम के धक्के में उलझाये रखने के लिये! परन्तु उच्च-कक्षा के साधकों को चाहिये कि अपनी सेवा में पधरायी हुई मूर्ति के सामने आँखें मींच कर ध्यानयोग का अभ्यास करें.

ऐसी और भी अनेकविध धारणायें या तो महाप्रभु के सिद्धान्त के अज्ञान के कारण या फिर महाप्रभु के सिद्धान्तों के प्रति द्वेषभाववश महाप्रभु के अनुयाइयों को महाप्रभु का ही नाम लेकर बरगलाने के लिए फैलाई जा रही हैं! यह एक क्रूर षडयंत्र है पुष्टिभक्ति मार्ग के दिव्य सिद्धान्तों को नष्ट कर देने का!

स्वरूपनिरपेक्षा भक्ति भी क्या कोई भक्ति है?

प्राचीन महानुभावों के चरित्र में एवम् उपदेशों में भी कभी-कभार स्वरूपनिरपेक्षता का उल्लेख मिलता है.

वह, परन्तु, भक्ति की किसी उच्चतम अवस्था का निरूपण नहीं है, किन्तु उच्च भक्तों की भक्ति में आये एक संचारिभाव के जैसा वह एक मनोभाव है. प्रणयियुगल के प्रणयप्रसंग में कभी प्रणयकलह भी हो जाता है. यह कलह प्रणय की कोई उच्चतम अवस्था नहीं होता, अपितु ऐसे कलह के संचारिभाव के साथ भी जब प्रणय का स्थायिभाव अविचल बना रहता है, तो वह प्रेम की उच्चता का द्योतक बन जाता है. जैसे खण्डिता नायिका मानिनी बन कर कभी अपने प्रियतम

को कह देती है: "जइये वाके धाम जाके जागे चारों याम लाल!" तो कुछ क्षणों के लिये ऐसा संचारिभाव रति की स्थायिता में रोचक हो सकता है. परन्तु कोई प्रेमिका यदि स्थायी रूप से अपने प्रियतम से निरपेक्ष बन जाये और अपने प्रियतम को सदा-सर्वदा के लिये बिदा करना चाहे, तब तो रसाभाव हो गया ऐसे समझ लेना चाहिये. पुष्टिभक्ति कभी स्वरूपनिरपेक्ष हो नहीं सकती.

कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि साक्षात् मूल स्वरूप से तो निरपेक्ष नहीं हो सकती परन्तु सेवा में पधराये गये स्वरूप से निरपेक्ष हो सकती है। जब इनसे पूछा जाये कि सेवा में पधराया गया स्वरूप, क्या महाप्रभु के सिद्धान्त के अनुसार, केवल धातु या पत्थर की जड़ मूर्ति है? तो जवाब देने से कतराते हैं. क्योंकि ऐसा तो कहा ही नहीं जा सकता, यद्यपि इन लोगों के हृदय में यही चोर छिपा हुआ रहता है!

महाप्रभु का आदेश तो सर्वथा स्पष्ट ही है: 'स्मरणं भजनं न त्याज्यम् इति मे मतिः'

क्या भगवत्स्वरूप की सेवा आज के युग में सम्भव नहीं है?

यदि महाप्रभु के मतानुसार ऐसा होता तो कभी भी वे 'सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन' नहीं कहते, और न 'भगवद्रूपसेवार्थ तत्सृष्टिः नान्यथा भवेत्' कहते. अतः महाप्रभु के इन वचनों पर हरताल पोते बिना उपरोक्त विधान सम्भव नहीं है. ऐसा कहने वाले जानते नहीं कि वे महाप्रभु के कितने छद्मद्वेषी हैं? क्योंकि महाप्रभु तो यही कहते हैं: 'स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः'

केवल भगवत्कथा में ही वियोगभावना करना एक निरा पाषण्ड है

जो कथोपदेशक भगवत्सेवा का त्याग करके वृत्यर्थ की जानेवाली भगवत्कथा में वियोगभावना के आंसू बहाते रहते हैं. वह तो अश्रुग्रन्थियों को इच्छातन्त्र बना कर दिखलाया जाता नाटक है, भगवत्स्वरूप सेवा से उनके अनुसार भाव शीतल बन जाता है! वे ऐसा प्रचार जनता में करते हैं. किन्तु इन वक्ताओं की भाव-ऊष्मा का रहस्य एक विचित्र संवाद में अनावृत्त हो जाता है.

प्रश्नः रोते क्यों हो?

उत्तरः सेव्यस्वरूप की याद आती है!

प्रश्नः तो सेवा क्यों नहीं करते?

उत्तरः क्योंकि स्वरूपसेवा करने से
स्नेह की ऊष्मा कम हो जाती है!

इस मनोवृत्ति की अभक्ति मार्गीयता एक अन्य उदाहरण से और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है.

एक प्रेमिका ने किसी शायर का एक शेर कभी सुन लिया था-

वो मोजज़ाए मोहब्बत कभी दिखाये मुझे।
कि संग तुझपे गिरे और चोट आये मुझे।।

प्रेम के इस रहस्य को जान लेने के बाद प्रेमिका अपने प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा में बैठ गई. उसे भी अपने प्रेम की सच्चाई की परीक्षा लेने की धुन लग गई थी. अतः प्रियतम के आते ही उसके सिर पर मारने को पत्थर हाथ में लेकर दौड़ पड़ी! वह बेचारा इस अप्रत्याशित व्यवहार से घबराकर सरपट भागा! और तब वह चिल्लाती हुई पीछे दौड़ी कि 'घबराओ मत! मेरे सच्चे प्रेम के कारण चोट तुम्हें नहीं परन्तु मुझे लगेगी!'

वह प्रियतम किन्तु हृदय से प्रेमिका को चाहता था. अतः बिना रुके यह कहकर भाग गया कि 'मुझे प्रेम की सत्यता कि परीक्षा करने की उतनी चिन्ता नहीं, जितनी कि तुम्हारे सिर की चिन्ता है!'

भक्ति की ऐसी ऊष्मा रखने वाले भक्तों से भगवान् ही स्वयम् को बचाये!

वियोग की पीड़ा होनी और वियोग की पीड़ा चाहनी इन दोनों में बड़ा अन्तर है. और वह यही कि एक प्रेमपूरित कोमल हृदय का लक्षण है, जबकि दूसरा प्रेमरहित कठोर हृदय का अश्रुपातनरूप केवल कर्मकाण्ड! अणुभाष्यकार तो स्पष्ट शब्दों में विधान करते हैं कि जब हृदय में भगवान नहीं विराजते तभी भाव का ऐसा भोंडा सार्वजनिक प्रदर्शन शक्य होता है. क्या आवश्यकता है इतने मूल्यवान आँसुओं को मोरी के पानी की तरह व्यर्थ ही बहा देने की? महाप्रभु का आदेश हमें भूलना नहीं चाहिये कि: 'स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः'

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्याः (!)

भक्ति मार्ग यदि दुःसाध्य है तो यह बात नहीं भूलनी चाहिये कि, महाप्रभु के मत में, अन्य सारे मार्ग तो असाध्य ही हैं. और वैसे तो स्वयम् श्रीमहाप्रभु का अवतार भी कलियुग में ही हुआ. उनके उपदेश सुनकर पुष्टिपथ की सफल यात्रा करने वाले ८४ तथा २५२ वैष्णव भी कलियुग में ही हुए थे. यदि सेवा उन कतिपय ८४ वैष्णवों के लिये ही कर्तव्य होती तो महाप्रभु ने कहा होता: 'इदानीं सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः' परन्तु वे 'इदानीं' न कह कर 'सर्वदा' कहते हैं! सर्वदा क्यों?

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।
कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ।।

भावार्थः इस तरह से भगवदाश्रय अर्थात् शरणागति भक्ति भाव को प्रकट करने के लिये, प्रकट होते समय; तथा प्रकट होने के बाद भी, सर्वदा सभी के लिये हितकारी होता है. विशेषतः कलियुग में भगवदाश्रय के बिना भक्ति आदि सभी मार्ग दुःसाध्य हो गये हैं.

महाप्रभु ने इसी विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थ में यह खुलासा दिया है-

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः।
दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे।।
भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते।
अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः।।

भावार्थः ऐहिक पारलौकिक सभी बातों में भगवान श्रीहरि आश्रयणीय है. दुःख हानि के लिये, पापाचरण हो गया हो तो, कामनाओं की पूर्ति के लिये अथवा भक्त का द्रोह हो गया हो, यदि स्वयम् हमारे भीतर भक्ति न हो और हम उसे पाना चाहते हों तो भी अन्य भक्तों ने हमारा कुछ अतिक्रमण किया हो तब भी, अपने लिये कोई भी कार्य अशक्य हो या सुशक्य हो श्रीहरि की शरणागति तो हमें स्वीकारनी ही चाहिये.

स्पष्ट है कि यह शरणागति का उपदेश भक्तिमार्ग विलोपनार्थ नहीं किन्तु प्रवर्धनार्थ ही है. अतएव महाप्रभु कहते हैं: स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः'

सेवा क्या केवल उच्चाधिकारियों का ही कर्तव्य है ?

कुछ लोग सेवा को इतनी ऊँची उठाना चाहते हैं कि जैसे घर में रोजमर्रा के काम में न आनेवाले साजसामान को हम ऊँची टाँड पर रख कर चैन की नींद सो जाते हैं!

यह बात सच है कि महाप्रभु के सिद्धान्त में भगवत्स्वरूप सेवा से अधिक श्रेष्ठ और कोई साधनानुष्ठान नहीं है. फिर भी वह भक्ति की एम.ए. कक्षा के अधिकारियों का ही एकाधिकार है ऐसा महाप्रभु का सिद्धान्त नहीं है. भक्तिमार्ग के किंडरगार्डन में पढने वाले विद्यार्थी को भी महाप्रभु-'सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः स्वस्यायमेव धर्मोहि नान्यः क्वापि कदाचन' उपदेश देते है. तथा पी.एच.डी. करने वाले को भी उपदेश में तो यही कहते हैं कि 'अतः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः'

भगवान के स्वरूप की संनिधि में ध्यानयोग (!)

शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद के दिव्य औपनिषद सिद्धान्तों की नींव पर महाप्रभु ने पुष्टिभक्ति के भव्य भवन का निर्माण किया है. ऐसी सुविचारित साधनाप्रणाली पर जो अखण्डनिष्ठा महाप्रभु ने अपने अनुयायियों की पनपायी है, उसे महाप्रभु के ही नाम पर खण्डित करने वाले कुछ वंचक उपदेश कों ने यह छद्म रचा है. ये महाप्रभु का स्पष्ट नाम ले लें तो इसके श्रोताओं की भीड़ में कुछ

कमी आ जाने का इन्हें भय सताता है! अतः महाप्रभु को 'भक्ति का बादशाह' बनाकर उनकी बादशाही खतम करने को उनके सिद्धान्तों की अटपटी एवम् अनर्गल व्याख्या करके वास्तविक सिद्धान्तों की ठिठोली करते रहते हैं' 'परमात्मा कृपा से मिलेगा ऐसा कहने वाले शैतान हैं' कह कर भक्ति के बादशाह को 'शैतान' कहने से भी चूकते नहीं हैं!

इनकी पोल परन्तु तब खुल जाती है जब इन्हें आँख मींचकर ध्यान धरनेवाली श्रोताओं की भीड़ का सामना करना पड़ता है! तब ये ध्यानयोग की बात बदलकर मूर्तिपूजा की वैज्ञानिकता की दुहाई देने लग जाते हैं! ये वक्ता किसी सिद्धान्त के सगे नहीं होते सिवाय अपने प्रवचन में भीड़ बढ़ाने के!

जहाँ तक महाप्रभु के सिद्धान्त का प्रश्न है तो हम देख ही चुके हैं कि उनके अनुसार-'प्रत्यक्ष में भजन (आँख खोलकर नयनभर नन्दकुमार को निरखना) श्रेष्ठ होता है और परोक्ष में आँख मींचकर उसका श्रवण-कीर्तन-चिन्तन श्रेष्ठ होता है और क्योंकि भगवत्स्वरूप शुद्धाद्वैतवाद में न तो जड़ या मायिक होता है; और न उपासनार्थ कल्पित ही, किन्तु अखिल ब्रह्माण्ड के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण परब्रह्म का ही तत्त्वतः भावतः और शास्त्रतः भी एक भजनीयतम स्वरूप ही होता है. अतएव महाप्रभु कहते हैं, 'स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः'

मननीय भावना

वृत्तासुर कहता है कि भगवान! मुझे ऐसा वरदान दो कि अपनी कर्मगति के अनुरूप जब मैं संसारचक्र में भ्रमण करता होऊं, तब तेरी माया के कारण स्वयम् में तथा स्वयम् की पत्नी, पुत्र, गृह, धन, यश आदि में उलझे हुए सांसारिक जनों के बजाय जो तेरे सच्चे भक्त हों, उनका सख्य मुझे मिले यह मेरी मुक्ति होगी; और कुछ भी मुझे नहीं चाहिये!

रुचितरपुमर्थान यो हि शक्तः प्रवक्तुम्
स्वयमपि नहि कर्तुं सोपि शक्नोति मूढ।
प्रभवति नहि तस्मात् त्वत्कृपातो विहिनः
उपशमयितुमेवं कर्मबुद्ध्योर्हि भेदम् ।।१।।
चिरमितरथा वा ग्रन्थमेतं मदीयं
कृतिमतिरति शुद्ध्यै त्वत्प्रसादाज्ज्यनीयम्
प्रणमतिभवदंघ्रावर्पयन् कांक्षते वै
भवतु भवतु भूयान् भक्ति भावः प्रभौ मै ।।२।।

चतु:श्लोकी: वार्ता-सन्दर्भ में

चतु:श्लोकी का प्रणयन श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य ने १५८० या ८२ में कभी किया था, ऐसी किंवदती मिलती है. राना व्यास और भगवानदास सांचोरा ने श्री महाप्रभु के मुखारविन्द से इस ग्रन्थ का अध्ययन किया था, ऐसा पुष्टिमार्गीय वार्ताओं में उल्लेख मिलता है.

जगत् में सभी तरह के जीव हैं और सभी को सभी तरह के संग भी मिल जाते हैं. इन आकस्मिक संगों के कारण कभी-कभी हमारे भीतर एक ऐसी अस्वाभाविक अहंता-ममता पनप जाती है जो अस्वमार्गीय धर्मार्थकाममोक्ष के प्रकारों की ओर हमें आकृष्ट करती है.

गोधरा के राना व्यास को भी प्रारंभ में एक बैरागी बाबा की संगति मिली थी. उन वैरागी बाबा की तीर्थयात्रा की बातों को सुनकर राना व्यास को लगा कि जीवन का वास्तविक सुख तीर्थों की यात्रा करते रहने में ही होना चाहिये. अतः माता-पिता को कुछ कहे-सुने बिना एक रात ये घर से निकल भागे, परन्तु इनका मन किसी भी तीर्थ के दर्शन से प्रसन्न न हो पाया। प्रारम्भ से ही इन्हें विद्याभिमान और जितेन्द्रिय होने का अभिमान तो था ही सो माता-पिता के देहान्त के बाद पाँच-दस हजार रुपये और उत्तराधिकार में मिले फलतः इन्हें धनाभिमान भी हो गया! कुल मिलाकर ये अपने आपको पहुँचा हुआ सिद्ध और उच्चकोटि का विद्वान् मानने लगे. शनैः शनैः अपने गाँव के लोग तो इन्हें गंवारू ही लगने लगे सो काशी के विद्वानों से टक्कर लेने की लालसा इनके दिल में जगी और एक दिन ये काशी पहुँच गये. वहाँ जाने के बाद किन्तु सब कुछ उल्टा ही हुआ, जिन-जिन पंडितों से ये टकराये उन सभी से इन्हें शास्त्रार्थ में पराजित होना पड़ा!

इससे ये अत्यधिक लज्जित होकर गंगा में कूदकर प्राणत्याग करना चाहते थे. यह आत्मघात भी दिन के उजाले में करने में इन्हें संकोच का अनुभव हो रहा था. सो गंगातट पर बैठे रात्रि के एकान्त और अन्धकार की प्रतीक्षा कर रहे थे। तभी श्री महाप्रभु का भी वहाँ पधारना हुआ. संयोगवश किसी वैष्णव ने श्री महाप्रभु से प्रश्न किया कि गंगा में डूबकर मरनेवाले की क्या गति होती है? इस पर श्री महाप्रभु ने उत्तर दिया कि अहंकारवश लड़-झगड़कर डूबनेवाले को सर्पयोनि मिलती है और आत्मघात का पाप भी लगता है, दीनभाव से किन्तु संन्यास लेकर और अपने मन को भगवान में एकाग्र बनाकर जो गंगा में प्राण त्याग करते हैं, उसकी दुर्गति नहीं होती.

ये बातें सीधी जाकर राना व्यास को लग गयीं और वे दौड़कर श्री महाप्रभु के चरणों में आकर गिर पड़े. अपनी आत्मकथा सुनाकर श्री महाप्रभु की शरण की याचना करने लगे. श्रीमहाप्रभु ने उन्हें ब्रह्म संबंध दीक्षा दी और चतु:श्लोकी का उपदेश भी दिया। इससे राना व्यास को अपने वास्तविक धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष-रूप पुरुषार्थ का ज्ञान हुआ और वे मिथ्या वैराग्य, धन और विद्वत्ता के अहंकार से मुक्त हुए, साथ ही साथ इस अहंकार की विफलता से पैदा हुई कुंठा एवं आत्मघात की क्षुद्र भावनाओं पर भी काबू पा सके. ये एक आदर्श भगवदीय का-सा भगवत्सेवा और भगवतस्मरण परायण पुष्टमार्गीय जीवन जीने के लिए सक्षम हो पाये.